विपाशा

हिमाचल प्रदेश के भाषा एवं संस्कृति विभाग की द्वैमासिक पत्रिका

मुख पृष्ठ : अवलोकितेश्वर, ताबो (स्पिति) की एक गुफा का भित्ति चित्र (पंद्रहवीं शताब्दी पूर्व); **अंतिम पृष्ठ :** बिलासपुर के निकट प्राकृतिक भूक्षरण का दृश्य: **पारदर्शियां : देवव्रत चक्रवर्ती;** दूसरा पृष्ठ : स्कैच : **सुरजीत**

विपाशा

साहित्य, संस्कृति एवं कला की द्वैमासिकी
वर्ष-२, अंक-८, मई-जून, १९८६

मुख्य संपादक
श्रीनिवास जोशी
निदेशक, भाषा एवं संस्कृति, हि० प्र०

संपादक
तुलसी रमण

संपर्क : संपादक-विपाशा, भाषा एवं संस्कृति विभाग, हि० प्र०
शिमला-१७१००१ दूरभाष : ३६६९

वार्षिक शुल्क : छः रुपये, एक प्रति : एक रुपया

क्रम

३ पाठकीय
५ संपादकीय

विशेष

७ श्रीकांत वर्मा के नाम मुक्तिबोध के पत्र
९ श्रीकांत वर्मा : एक संघर्षशील ज़िंदगी का अंत : अरविंद कुमार त्रिपाठी
१६ विचित्र प्रेम : मास्ति वेंकटेश अय्यंगार की कहानी
२३ शब्द की सत्ता : निर्मल वर्मा
२६ वीरेन्द्र कुमार जैन : अतिक्रांति का रचनाकार : प्रभाकर श्रोत्रिय

कहानी

३१ जंगल में फंसी औरत : मनु निश्चित
३६ पतलियों और मुंह के बीच : राजकुमार राकेश

कविता

४७ टूटने की गूंज में : पांच कविताएं : नन्दकिशोर आचार्य
४९ पांच कविताएं : रेखा
५४ तीन कविताएं : अशोक चौहान

देशांतर

५८ एज़रा पाउण्ड की सात कविताएं : अनुवाद—एम० एस० पटेल

समीक्षा

६२ पहाड़ खुल रहे हैं : श्रीनिवास श्रीकांत
६६ संघर्ष संकुल जीवन स्थितियां और कथात्मक प्रतिक्रिया : डॉ० पुष्पपाल सिंह
६८ जंगल में मंगल : सत्येंद्र शर्मा

संस्कृति

६९ मूल आर्य संस्कृति और हिमाचल प्रदेश : मियां गोवर्धनसिंह
७९ रामायण में हिमालय तथा मनुष्येतर जातियां : डॉ० सतीश कुमार शर्मा
८३ पश्चिमी हिमालय की लोक प्रतिमाएं : ओमचंद हाण्डा

आयोजन

९२ प्रगतिशील लेखक संघ : स्वर्ण जयन्ती समारोह : सुरेश सेठ

कला

९६ उषा-अनिरुद्ध चित्र सीरीज़ कथा

पाठकीय

अंक छः

सुरेन्द्र चौहान (सोलन) : विपाशा में जोगेन्द्र नगर कथा शिविर में पढ़ी गयी सामग्री देने की योजना जहां एक ओर आयोजन विशेष को समेटने का प्रयास है वहीं पठित रचनाओं पर हुई बहस सही रचनात्मक संदर्भों को भी प्रस्तुत करती है। लेकिन यह बहस यदि अधिक विस्तार से दी जाती तो और अच्छा रहता।

बृजमोहन शर्मा (चंडीगढ़) : छटे अंक में प्रकाशित तीन उपन्यास अंशों में से संजीव का उपन्यास अंश सर्वाधिक प्रभावित करता है। इसका कारण यह भी है कि एक तरह से यह एक पूरी कहानी भी है। आंचलिक भाषा का प्रयोग कहीं-कहीं संप्रेषण में कठिनाई ज़रूर पैदा करता है। कोयला खदानों की जोखिम-भरी ज़िंदगी की दारुणता इसमें देखी जा सकती है।

सतीशचन्द्र (धर्मशाला) : विपाशा के अब तक प्रकाशित तीन-चार अंक ही मुझे पढ़ने को मिले हैं लेकिन यह खुशी की बात है कि इसमें रचनाओं के चयन की ओर अच्छा ध्यान दिया जा रहा है। 'निधि' स्तम्भ के अन्तर्गत प्रमुख रचनाकारों पर आधारित सामग्री महत्त्वपूर्ण रही है। इसी वजह से ये अंक विद्यार्थियों व अध्यापकों से लेकर साहित्य के दूसरे पाठकों, सभी के लिए संग्रहणीय हो गए हैं। इस स्तम्भ को बन्द न करें।

दीपक शर्मा (नाहन) : अंक छः में तीन उपन्यास अंशों में संजीव तथा केशव के उपन्यास अंश कुछ हद तक पठनीय हैं लेकिन बलराम का उपन्यास अंश पात्रों के मध्य कथानक के उलझाव के अतिरिक्त कोई ऐसी बात सामने नहीं रख पाता जिससे इस अंश को प्रकाशित करने का इसके अतिरिक्त भी कोई तर्क हो कि यह शिविर में पढ़ा गया था। इसमें ग्रामीण जीवन को दर्शाने का जो प्रयास हुआ है वह भी खाली-सा चला गया है। संभवत: ऐसा एक अंशमात्र के देने से भी हुआ हो।

राकेश भारद्वाज (देहरादून): छटे अंक में 'निधि' तथा 'साक्षात्कार' जैसे स्तम्भ न पाकर निराशा हुई। उपन्यास अंश पाठकों के लिए इतने उपयोगी नहीं। हां, साथ दी गई बहस से रुचि कुछ बढ़ जाती है। 'समीक्षा' में हिमाचल प्रदेश से बाहर के प्रतिष्ठित रचनाकारों की कृतियों पर सामग्री बहुत कम दी जा रही है। इस अभाव को पूरा करना पत्रिका के लिए अच्छा रहेगा।

रीता शर्मा (चंडीगढ़) हालांकि किसी भी उपन्यास के एक अंश मात्र को पढ़कर पूरे उपन्यास के बारे में कुछ सार्थक कह सकना हमेशा संभव नहीं होता फिर भी जैसे नदी से चुलू

भर पानी लेकर उसके रंग और गंध का कुछ न कुछ जायजा तो लिया ही जा सकता है। केशव का उपन्यास कवितामयी भाषा से संबंधों के तल में छिपी रोशनी को पहचानने का एक प्रयास लगता है। गद्य लिखते वक्त कविता की भाषा से संबंधों के सच को पकड़ने के अपने खतरे हैं।

संजीव की कुछ कहानियां और उनका उपन्यास सर्कस भी मैंने पढ़ा है। वे अपने पात्रों और स्थितियों को एक कुशल कारीगर की तरह गढ़ने में सिद्धहस्त तो हैं लेकिन उनके यहां सबसे बड़ा जोखिम यह है कि वे अक्सर अपनी विचारधारा को उन पात्रों और स्थितियों पर आरोपित करते भी दिखाई देते हैं। 'इक्कीस दिन लम्बी मौत' उपन्यास अंश में ऐसा नहीं हुआ है; यह अच्छी बात है। मौत को सामने देखकर भी हम किस तरह एक-दूसरे पर झपट पड़ते हैं और स्थिति की सारी भयानकता को देखते हुए भी जीवन से अलग हटने को उद्यत नहीं हो पाते। ये सब बातें इस अंश में प्रभावशाली ढंग से सामने आई हैं और इससे उपन्यास के बेहतर होने का अनुमान भी लगाया ही जा सकता है।

रमेशचन्द्र (ऊना) : अपने आपको ग्रामीण कथाकार कहलाने का आज एक फैशन होने लगा है। वर्षों पहले गांव छोड़कर शहर में आ बसे लेखक अपनी टूटी-फूटी स्मृतियों के सहारे उस गांव को जिंदा करने की कोशिश बहुत बार एक अधकचरी रचना के रूप में सामने आती है। बलराम के उपन्यास अंश को पढ़कर भी कुछ यही आभास होने लगता है। हालांकि बाहरी या स्थूल जीवन स्थितियों पर उनकी पकड़ मजबूत दिखाई देती है।

केशव के उपन्यास अंश के बारे में संजीव का यह कहना काफी हद तक सही जान पड़ता है कि यह रचना एक तरह के संभ्रांत वर्गीय पाठकों की पकड़ की होगी। इसका शिल्प अपनी छाप छोड़ता है।

विश्वम्भर दास (दिल्ली) : विपाशा का ताजा अंक पहले अंकों से हटकर है। यह अलग बात है कि इसमें एक आयोजन विशेष पर आधारित सामग्री दी गई है लेकिन विविध स्तम्भों वाले पूर्व प्रकाशित अंकों से इसका महत्त्व बढ़ नहीं जाता है।

संपादकीय

किसी के न होने से

हरेक मोड़ पर
 प्रेमिका की तरह
 मृत्यु
 खड़ी होती है।
शरीरान्त के पहले मैं सब कुछ निचोड़कर
उसको दे जाऊँगा जो भी मुझे मिलेगा।
मैं यह अच्छी तरह जानता हूँ।
किसी के न होने से कुछ भी नहीं होता;
मेरे न होने से कुछ भी नहीं हिलेगा। (माया दर्पण)

इस पच्चीस मई को **श्रीकांत वर्मा** को उनकी प्रेमिका मृत्यु ने इस दुनिया से छीन ही लिया। लेकिन ऐसा नहीं है कि उनके इस तरह असामयिक निधन से कुछ भी नहीं हिला। विशेष रूप से ऐसी स्थिति में जबकि राजनीति से एक तरह से अलग होने पर फिर से साहित्य में सक्रियता का संकल्प लेकर बहुत कुछ करने की प्रबल इच्छा थी। और इस बात का अहसास गहरा हो गया था कि अन्ततः सृजन के लिए ही समर्पित होना है। मुक्तिबोध के बाद की पीढ़ी के प्रमुख कवि, प्रखर बुद्धिजीवी श्रीकांत वर्मा का पचपन वर्ष की आयु में ही चल देना निःसंदेह हिन्दी साहित्य जगत् की अपूरणीय क्षति है।

आधुनिक कन्नड़ कहानी के जनक, ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित रचनाकार **मास्ति वेंकटेश अयंगार** भी छः जून को इस संसार से चल बसे। अपने पचानवें वर्षीय जीवन में लगभग सत्तर वर्षों से भी लम्बी अवधि में रचित मास्ति की विपुल सृजनात्मकता में हमारी सांस्कृतिक धरोहर की सर्वोत्कृष्ट मानव गरिमा में उनकी अटूट आस्था के प्रचुर दर्शन होते हैं। लगभग हर विधा की एक सौ बीस के करीब पुस्तकों में उन्होंने इतना कुछ दिया है जितना बीसियों लेखक नहीं दे पाते। मास्ति केवल कन्नड़ के न रह कर समूची भारतीय अस्मिता के प्रतीक हैं।

इस अंक में श्रीकांत वर्मा से सम्बन्धित सामग्री के साथ मास्ति की एक कहानी विचित्र-प्रेम भी दी गई है।

दोनों रचनाकारों को 'विपाशा' की विनम्र श्रद्धांजलि !

कुल मिलाकर **निर्मल वर्मा** का स्वभाव कम बोलने का रहा है। पिछले साल 'शिखर रचना शिविर' में भाग लेने के लिए एक लम्बे अर्से के बाद शिमला आए तो उनमें बोलने के लिए अच्छा उत्साह था और जमकर बोले भी। रचना, रचनाकार व आलोचना से लेकर जीवन से जुड़ने वाले अनेक सवालों पर उन्होंने दो टूक बातें कहीं। इस अंक में **'शब्द की सत्ता'** शीर्षक के अन्तर्गत उनका भाषण दिया गया है। इसे हम भले ही देर से दे पा रहे हैं, लेकिन ये सारे सवाल बासे नहीं हैं। बल्कि इनमें से कुछ साहित्य की समकालीन बहसों में विशेष मुद्दे रहे हैं और कुछ सवाल ऐसे भी हैं जिन पर बहस जारी रह सकती है। बहरहाल निर्मलजी 'विपाशा' के पाठकों से मुखातिब हैं।

रचनाकार **वीरेन्द्र कुमार जैन** के कृतित्व को लेकर डॉ० प्रभाकर श्रोत्रिय का लेख अपना महत्व रखता है। आगामी अंकों में भी लेखक या कलाकार विशेष की रचनात्मकता से पाठकों का साक्षात् करवाने का प्रयास रहेगा; वह इन्टरव्यू के रूप में भी हो सकता है और इस तरह के लेख के माध्यम से भी।

कहानी, कविता तथा समीक्षा जैसी नियमित सामग्री के साथ 'देशांतर' के अन्तर्गत **एज़रा पाउण्ड** की कुछ कविताएं भी हैं। इतिहास एवं संस्कृति सम्बन्धी लेखों के साथ लोक कलाओं को लेकर विविध सामग्री देने के क्रम में इस बार लोक प्रतिमाओं पर ओमचंद हांडा का लेख गया है और आगामी अंकों में भी विभिन्न कलाओं पर सामग्री रहेगी ही।

प्रदेश तथा प्रदेश से बाहर की साहित्यिक सांस्कृतिक गतिविधियों को लेकर समीक्षात्मक टिप्पणियों व रिपोर्टों के लिए निर्धारित 'आयोजन' स्तम्भ के लिए हमें भरपूर सामग्री नहीं मिल रही है। इस तरह की गतिविधियों से जुड़े लोगों से ऐसे आयोजनों पर समीक्षात्मक टिप्पणियों की अपेक्षा रहेगी।

'विपाशा' के आवरण के लिए इसकी विषयवस्तु के अनुरूप पारदर्शियों व रेखांकन भी कलाकारों से आमंत्रित हैं।

विशेष

श्रीकांत वर्मा के नाम मुक्तिबोध के पत्र

राजनाँद गाँव
14 नवम्बर (63)

प्रिय श्रीकांत भाई,

बहुत पहले आपकी चिट्ठी आयी थी। कल्पना में आपका लेख भी ध्यान से पढ़ गया। हृदय के बहुत तीव्र आवेग से आपने उसे लिखा था। उसी के इर्द-गिर्द, लहर के विश्व काव्य वाले अंक में आपकी कविता पढ़ी।

तब से आपके बारे में सोचता ही रहा। वह कविता निसन्देह पढ़ने वाले में दर्द पैदा करती थी। इसीलिए, सोचना पड़ा। शायद ही, ऐसी दर्द वाली कविता मैंने हिन्दी में पढ़ी हो। अगर सिर्फ दर्द ही दर्द होता तो शायद सोचने को मज़बूर न होना पड़ता। उसमें एक भयानक निराशा का स्वर था। यह बात जरूरत से ज्यादा चुभी कि मूर्ख सोचते हैं कि हमारा कोई देश है, हमारा तो कोई देश नहीं। मैंने इसका अर्थ यही लिया कि एक विशेष मन:स्थिति में यह बात कही गयी है। और, उस मन:स्थिति के संदर्भ से ही वह बोलती है।

उस कविता को पढ़कर आपकी ज़िंदगी का ख़याल आना स्वाभाविक था। छत्तीसगढ़ का यह मेरा प्यारा कवि क्या का क्या हो गया, (आपके जीवन के संबंध में चिन्ता सताने लगी) उस छत्तीसगढ़ में, जहां मुझे मेरे प्यारे छोटे-छोटे लोग मिले, जिन्होंने मुझे बाहों में समेट लिया, और बड़े भी मिले, जिन्होंने मुझे सम्मान और सत्कार प्रदान करके, संकटों से बचाया। मैं उन्हीं के कारण—आप सबके कारण—हां, आपके कारण, मनुष्यता में विश्वास खो नहीं पाता—मैं सैद्धांतिक बात नहीं बता रहा हूं। उस छत्तीसगढ़ का मैं ऋणी हूं, जिसने मुझे और मेरे बाल-बच्चों को शांतिपूर्वक जीने का क्षेत्र दिया। उस छत्तीसगढ़ की भूमि ने जो अत्यन्त प्रतिभाशाली पुत्र पैदा किया, वह दिल्ली जाकर—इतना अधिक विपद-ग्रस्त हो गया कि दुख होता है।

अपना रोना नहीं रोऊंगा। तीव्रतम मनुष्य निर्मित निराशात्मक परिस्थितियों में रहने वाले मुझ जैसे के हार्दिक अंधकार की जो आंखें हैं, वे उस कविता के दर्द को पहचानती हैं, लेकिन नहीं चाहतीं कि ऐसी हालत आप में रहे।

इस तरह देखा जाये तो वह कविता अत्यन्त प्रभावोत्पादक है। उसका विन्यास, उसका गठन, उसकी शब्द-रचना एकदम निराली। मैं तो दंग रह गया।

लहर के ताजे अंक में, दूसरी कविता भी देखी। उसमें भी वही बात है, फर्क यह है कि

उसमें Cynicism अधिक है, और सघनता पहले वाली कविता जैसी नहीं है। फिर भी, एकदम बेजोड़ और निराले ढंग की कविता है वह।

यानी कि एक हालत चल रही है, जारी है, एक जीवन-दशा, एक मनोदशा, एक मनो-धारा। काश, मैं आपके पास होता तो संभवतः ज्यादा जान सकता !!

ज्ञानोदय का वह अंक देखने को मिला, जिसमें आपने नामवरसिंह को तेज़ तेज जवाब दिया था। पिछले अंक देखने को नहीं मिले, जिनमें उनका लेख है। मैंने मंगवाये हैं। उनके बारे में, कल्पना वाले शिवदानसिंह चौहान पर लिखे आपके निबंध के संबंध में फिर लिखूंगा, लेख रूप में, कभी किसी वक्त।

आशा है, अपने बारे में आप कभी लिखेंगे और मेरी किसी बात का बुरा न मानेंगे।

आपका ही
ग० मा० मुक्तिबोध

[राजनांद गांव]
(16). 4. 61

प्रिय श्रीकांत,

आपका पत्र तथा कांताजी का पत्र एक के बाद एक मिले। लेकिन, मैं एकदम कुछ नहीं कर सकता था; लिखने में समय लग ही जाता है। अनेकानेक कारण थे।

नरेशजी ने कृति से हाथ खींचकर अच्छा नहीं किया। मैं भी उन्हें लिख रहा हूं। अभी तक मुझे यह चाहिए था कि मैं उन्हें कृति के संबंध में पत्र लिखता।

कृति के नए अन्तःस्वरूप; के संबंध में आपने जो सोचा है, वह उचित ही है। यही होना चाहिए था, बहुत पहले से। नयी कविता में प्रगतिशील तत्व क्या हैं तथा आगे उसकी दिशा कौन-सी होनी चाहिए—इतना ही क्षेत्र कृति होना चाहिए। आप तो जानते ही हैं कि तत्संबंध में क्या करना होगा। मेरा अपना खयाल है कि उसे अधिकाधिक प्रगतिशील बनाया जाना चाहिए।

पत्र-पत्रिकाओं में इधर बहुत कम्पिटीशन है। इसीलिए, सामग्री की श्रेष्ठता अत्यन्त आवश्यक है, और तत्सम्बन्ध में अत्यन्त सावधानी रखनी होगी।

इधर मेरे एक मित्र ने अमरीकी साहित्य का अध्ययन शुरू किया है। उनका विधिवत् है। मैंने उनसे अनुरोध किया है कि वे Leftist Tendency in American Poetry नामक विषय पर एक परिचयात्मक लेख लिखें। उनका लेख अंग्रेजी में होगा, मैं उसका अनुवाद करूंगा। मेरी स्वयं की इच्छा है कि अमरीकी साहित्य की विशाल संघर्षमयी प्रगतिशील परम्परा का बोध करवाया जाये। अभी वे मित्र छुट्टियों में मंसूरी जा रहे हैं। वहां से लौटते ही, मैं उनसे ऐसे ही विषयों पर लिखने का आग्रह करूंगा। अपना मत लिखें।

मैं बुक पोस्ट से अपनी कविता भेज रहा हूं, और यह निवेदन करना चाहता हूं कि कृपया उसमें मुद्रण दोष न हो।

आपका
ग० म० मु०

मुक्तिबोध रचनावली, (राजकमल प्रकाशन दिल्ली) से साभार।

श्रीकान्त वर्मा : एक संघर्षशील ज़िंदगी

☐ अरविन्द कुमार त्रिपाठी

पिछले दिनों साहित्य जगत् को एक बड़ा आघात लगा, जब नयी कविता में मुक्तिबोध की पीढ़ी के बाद के एक उर्जा-सम्पन्न कवि-कथाकार श्रीकांत वर्मा का अमेरिका के 'स्लोन केटरिंग मेमोरियल' अस्पताल में कैंसर के आपरेशन के दौरान उत्पन्न हुए शारीरिक व्याधि के चौतरफा आक्रमणों ने उन्हें मृत्यु से लगातार तीन महीने तक संघर्ष करने के बावजूद अंततः समाप्त कर दिया। उनका निधन बहुत आकस्मिक हुआ। किसी ने नहीं सोचा था कि वे इतनी जल्दी दुनिया को छोड़ जायेंगे। क्योंकि ५५ वर्ष की उम्र किसी के मरने की उम्र नहीं होती। उनका मरना इसीलिए सबको अखर रहा है कि पिछले वर्ष सितम्बर में वे देश की शिखर राजनीति से एक तरह से अलग होने पर शेष जीवन साहित्य सृजन में लगाने का संकल्प लेकर अपने साहित्य की दुनिया में लौट आये थे। अपने निधन के पिछले चार महीनों से वे लगातार एक साथ कई किताबों पर कार्य कर रहे थे। इस दौर में उन्होंने 'मगध' की मनोभूमि पर काफी कविताएं लिखीं। कई महत्वपूर्ण वैचारिक लेख लिखे। 'गंगा' पर एक लम्बी लेख माला आरंभ की थी। इसी मई से 'कृति' मासिक का प्रकाशन पुन. आरंभ करने जा रहे थे, जिसके लिए मुझे और धीरेन्द्र अस्थाना को संपादकीय सहयोग के लिए योजना बनाई थी। वे रोज इधर डायरी लिखा करते थे। शायद अपने मन की अत्यंत गोपनीय गुत्थियों को वे उसमें अंकित कर रहे थे। वे मुक्तिबोध को लेकर एक किताब लिखने वाले थे। विश्व-कवियों की महत्वपूर्ण कविताओं का वे संपादन करने की एक बड़ी योजना का पूरा प्रारूप बना चुके थे और अपनी संघर्षशील ज़िंदगी को लेकर अपनी आत्मकथा लिखने की सोच रहे थे। कुल मिलाकर वे फिर सन् ६० के आसपास के माहौल की तरह अपनी साहित्यिक सक्रियता को एक बार फिर जीना चाहते थे। हालांकि

निरन्तर संघर्ष की जिंदगी जीने से उनका शरीर और मन बहुत हद तक थक चुका था। लेकिन वे अपने साहस से एक लम्बी जिंदगी जीना चाहते थे। जैसा कि उन्होंने १३ मार्च को न्यूयार्क के अस्पताल में आपरेशन थियेटर में जाने से पूर्व अपनी डायरी के अंतिम पन्ने में लिखा कि 'मैं जीना चाहता हूं'।

श्रीकांतजी का पूरा जीवन संघर्षों से भरा हुआ एक कथानक लगता है, जिसकी विषय-वस्तु बहुत जटिल और भयावह थी। मध्यप्रदेश के एक अविकसित जिले में १८ सितम्बर, १९३१ को पैदा हुए श्रीकांत वर्मा को जीवन के प्रारंभ से ही परिवार के भरण-पोषण और भाइयों की शिक्षा के साथ अपनी शिक्षा को पूरा करने के लिए बी० ए० पास करने के बाद वहीं एक छोटे से स्कूल में मास्टरी करनी पड़ी। सपने देखने की इस उम्र में श्रीकांतजी को परिवार की गाड़ी खींचनी पड़ी और असमय ही छोटी नौकरी का जुआ कंधों पर रखना पड़ा। इन्हीं जीवन संघर्षों के बीच उनका लगाव साहित्य की तरफ हुआ और वे कविताएं लिखने लगे। उन्होंने सबसे पहले १९४८ में कविताएं लिखनी प्रारंभ की जो मध्यप्रदेश की प्रकृति, पहाड़, नदी, झरने, खेत-खलिहान जैसी काव्य वस्तु पर आधारित थीं। उनकी प्रारंभिक कविताएं मध्यप्रदेश के पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुईं। उनकी ये कविताएं मुक्त छंद की अपेक्षा पारंपरिक छंदों में थीं, जो ज्यादातर गेय थीं। श्रीकांतजी अपने उस दौर की कविताओं को नौसिखुआ मानते थे। उनकी कविताओं में एक महत्वपूर्ण बदलाव तब आया जब वे कवि मुक्तिबोध के सम्पर्क में आये। उन दिनों मुक्तिबोध नागपुर में थे जिनसे वे प्रायः मिलने जाया करते थे। श्रीकांत वर्मा के कवि पर मुक्तिबोध के व्यक्तित्व और कविता दोनों का खासा प्रभाव पड़ा। श्रीकांतजी बताते थे कि मैं मुक्तिबोध को अपनी कविताएं सुनाता था, जिसे वे बड़े चाव से सुनते और उस पर अपनी निष्पक्ष राय जाहिर करते। उन्हीं दिनों मुक्तिबोध ने श्रीकांतजी का परिचय नरेश मेहता से कराया जो उन दिनों नागपुर रेडियो स्टेशन में प्रोड्यूसर पद पर कार्य करते थे। श्रीकांतजी की मैत्री नरेश मेहता से भी हो गई जो बाद में दिल्ली आने पर और प्रगाढ़ हुई।

श्रीकांत वर्मा ने १९५६ में नागपुर विश्वविद्यालय से एक प्राइवेट छात्र के रूप में एम० ए० (हिन्दी) की परीक्षा उत्तीर्ण की। उसी दौर में श्रीकांत वर्मा ने चंदा जुटाकर नव लेखन की एक महत्वपूर्ण पत्रिका 'नई दिशा' निकाली, जिसके प्रेरणा स्रोत थे—मुक्तिबोध। इस पत्रिका के सिर्फ दो अंक निकले पर मध्यप्रदेश के साहित्यिक क्षितिज पर इसका खासा असर पड़ा। उन दिनों मध्यप्रदेश से बहुत कम साहित्यिक पत्रिकाएं निकलती थीं। ऐसे परिवेश में 'नई दिशा' का प्रकाशन एक महत्वपूर्ण उपलब्धि थी।

१९५६ में श्रीकांतजी के जीवन में एक नया मोड़ आया जब उन्होंने विलासपुर छोड़कर दिल्ली आने का निर्णय लिया। उन दिनों नरेश मेहता के सम्पादन में राष्ट्रीय मजदूर कांग्रेस का एक साप्ताहिक पत्र 'भारतीय श्रमिक' प्रकाशित हो रहा था। जिसमें श्रीकांतजी ने उप-संपादक के रूप में अपनी आजीविका प्रारंभ की। इस पत्र में श्रीकांतजी ने १९५६ से १९५९ अर्थात् तीन वर्ष तक कार्य किया। किंतु अचानक यह पत्र बंद हो गया। फलतः उसके सारे कर्मचारी बेरोजगार हो गये। श्रीकांतजी दिल्ली की सड़कों पर आ गए। उस समय उनके पास जीविका का और कोई साधन नहीं था। वे पूरे तौर पर निराश्रित थे। लेकिन उन्होंने पराजय नहीं स्वीकारी और इसी दिल्ली में संघर्ष करने का संकल्प लिया। नरेश मेहता इलाहाबाद लौट चुके थे। उस समय श्रीकांतजी की जीविका के दो साधन थे—एक तो सरकारी और गैर सर-

सारी कार्यालयों में अनुवाद का कार्य और दूसरा अपने सृजनात्मक लेखन के पारिश्रमिक के रूप में मिलने वाले पैसे। लेकिन ये दोनों साधन जीवन-यापन के लिए अपर्याप्त थे। श्रीकांतजी ने कई नौकरियों के लिए हाथ-पांव मारे किंतु किसी में सफलता नहीं मिली। वे बताते थे, "उस समय आकाशवाणी में प्रोड्यूसर के कुछ पद निकले। मैंने उसके लिए आवेदन किया। इंटरव्यू के दौरान मुझसे पूछा गया कि "आपने एम० ए० प्राइवेट छात्र के रूप में क्यों किया ?" तो मैंने बताया "कुछ परिस्थितियां थीं"। उस समय मेरा पहला काव्य संग्रह 'भटका मेघ' प्रकाशित हो चुका था। मैंने बोर्ड को बताया, "मैं कविताएं और कहानियां भी लिखता हूं!" बोर्ड के एक सदस्य ने कहा "तो आप कवि हैं फिर नौकरी क्यों खोज रहे हैं, आप कविता ही लिखिये। यहां कविता लिखने की कोई जरूरत नहीं।" श्रीकांतजी बताते थे, "इसी तरह के अनाप-शनाप सवाल नौकरियों के इन्टरव्यू में लोग किया करते थे। फिर मैंने निश्चय किया कि अब नौकरियों के चक्कर में नहीं पड़ूंगा। सिर्फ़ साहित्य लेखन के बल पर ज़िंदा रहूंगा।" उसके बाद कई वर्ष तक इसी दिल्ली में बेरोज़गार रहकर फटेहाली और भीषण अभाव का जीवन जीते हुए साहित्यिक संघर्ष ज़ारी रक्खा।

१९५८ में श्रीकांतजी ने दिल्ली से नरेश मेहता के साथ 'कृति' नामक महत्वपूर्ण पत्रिका निकाली। यह वह समय था जब 'नयी कविता' का आंदोलन शिखर पर था। दूसरी ओर 'नयी कहानी' का आन्दोलन भी अपने दिलचस्प दौर में था। साहित्य में व्यक्तिवादी कलावादी मूल्यों की महत्ता काफी ज़ोर-शोर से स्वीकार की जा रही थी। कविता में अज्ञेय के फालोअर इलाहाबाद 'परिमल ग्रुप' से लेकर दिल्ली तक फैले हुए थे। श्रीकांत वर्मा का पहला कविता संग्रह 'भटका मेघ' प्रकाशित हो चुका था। 'भटका मेघ' की कविताएं इस दृष्टि से ज़्यादा महत्वपूर्ण थी क्योंकि इसमें श्रीकांत वर्मा ने अपने अतीत की स्मृतियों को, खासतौर से मध्य प्रदेश की धरती के साथ जुड़कर इन कविताओं में अपने कस्बाई परिवेश के प्रति तीव्र हमदर्दी दिखाई। इसमें एक युवा मन की आशावादी मनोभावनाओं का तीव्र उन्मेष था जो संघर्षशील होने के साथ आशावादी भी था। 'भटका मेघ' कविता इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है—

जिस पृथ्वी से जन्मा
उसे भुला दूं
यह कैसे संभव है ?

मुझे क्षमा करना कवि मेरे !
तुमने जो दिखलाया मैंने
उससे कुछ ज्यादा देखा है
मैंने सदियों को मनुष्य की आंखों में घुलते देखा है।

(भटका मेघ)

१९५९ में 'तीसरा सप्तक' प्रकाशित हो चुका था। यह अज्ञेय के प्रताप का वह दौर था जब 'तीसरा सप्तक' के दौर के कवि 'तीसरा सप्तक' में प्रकाशित होने के लिए होड़ लगाकर बेचैन थे। श्रीकांत वर्मा के लगभग सारे समकालीन कवि रघुवीर सहाय, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, धर्मवीर भारती, विजयदेव नारायण साही, कुंवर नारायण सभी सप्तक परंपरा में शामिल हो चुके थे। पर श्रीकांत वर्मा ने अज्ञेयजी से सप्तकों की परंपरा में सम्मिलित होने के लिए

अपनी ओर से कोई पहल नहीं की। वे अपने कवि जीवन का रास्ता स्वय तय करना चाहते थे। उनके लिए किसी बैसाखी की जरूरत नहीं थी।

सन् ६० के बाद श्रीकांत वर्मा की कविताओं में एक दिलचस्प मोड़ आया, जब उन्होंने रोमांटिक भावभूमि को छोड़कर जीवन की यथार्थवादी अनुभूतियों से सीधी मुठभेड़ की। उनकी काव्य संवेदना बदल गई और काव्य भाषा के स्तर पर भी एक बदलाव आया। श्रीकांत वर्मा की कविताओं पर हिंदी कविता में पहली बार अपने समय का पूरा-पूरा दबाव व्यक्त होना आरंभ हुआ। यह वह समय था जब आज़ादी से देश की युवा पीढ़ी का मोहभंग हो चुका था। नेहरू की शांतिप्रिय नीतियां १९६२ में चीन से पराजित होकर धूल में मिल गईं। देश में चारों तरफ असंतोष का वातावरण व्याप्त हो गया। ऐसे दौर में समाजवादी राजनीति के सूर्य थे—डॉ० राममनोहर लोहिया, जिनका देश की अवाम और खासतौर से देश के बौद्धिकों पर काफी प्रभाव पड़ा। लोहिया की समाजवादी विचारधारा से उस समय के सभी महत्वपूर्ण कवियों पर गहरा असर पड़ा। श्रीकांत वर्मा जो उन दिनों लोहिया के ज़्यादा निकट थे, उनकी 'मायादर्पण' की कविताओं पर समाजवादी विचारधारा का व्यापक प्रभाव देखा जा सकता है। १९६७ में श्रीकांत वर्मा के दो काव्य संग्रह एक साथ प्रकाशित हुए—मायादर्पण और दिनारंभ। इसमें मायादर्पण की कविताओं ने श्रीकांत वर्मा के कवि को व्यापक प्रतिष्ठा दी। खासतौर से उनकी कविता ने नाटकीयता, व्यंग्य और काव्य भाषा में जो सपाटबयानी अख्तियार की उसका व्यापक असर कविता पर पड़ा। उस दौर की राजनीतिक कविताओं पर गौर किया जाए तो पता चलता है कि श्रीकांत वर्मा ने उस दौर के तमाम कवियों पर अपनी छाप छोड़ी। पर श्रीकांत वर्मा जैसी पहचान कोई नहीं बना सका। इसका सीधा कारण यह था कि श्रीकांत वर्मा के पास कविता के औज़ार के रूप में जो भाषा और काव्यशिल्प था, उस तरह का अनोखा काव्यशिल्प उस दौर के किसी भी कवि के पास नहीं था। श्रीकांत वर्मा के जो समकालीन थे—उसमें सर्वेश्वर, रघुवीर सहाय और केदारनाथ सिंह महत्वपूर्ण थे। पर इन सब कवियों का काव्य विकास सन् ७० के बाद हुआ। रघुवीर सहाय राजनीतिक कविताओं के लेखन में पटु माने जाते रहे हैं, पर 'आत्महत्या के विरुद्ध' की कविताओं के बाद उनका काव्य विकास एकदम रुक गया। केदारनाथ सिंह 'अभी बिल्कुल अभी'। (१९५९) के बाद लम्बे समय तक कविता के हाशिये पर रहे, पर १९८० में 'ज़मीन पक रही है' के प्रकाशन ने उन्हें कविता के केन्द्र में एक बार उपस्थित किया। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना हालांकि शुरू से अंत तक बराबर कविताएं लिखते रहे, पर उनकी कविताओं में बदलाव 'जंगल के दर्द' से शुरू हुआ और बाद में वे भी 'खूटियों पर टंगे लोग' तक आते-आते जन कवि के रूप में प्रतिष्ठित हुए।

कविता के इस दृश्यालेख में श्रीकांत वर्मा के काव्य-विकास का जायज़ा लिया जाए तो श्रीकांत वर्मा शुरू से ही विपक्षधर्मी चेतना के एक ऊर्जा-सम्पन्न कवि रहे। उन्होंने कविता में बराबर बदलाव, फेर बदल और निरंतर अपनी मूर्ति को तोड़ते रहने का रास्ता अख्तियार किया। इतना लम्बा और गत्यात्मक काव्य-विकास किसी भी कवि में नहीं रहा। गौर से इस बात का जायज़ा लिया जाए तो 'भटका मेघ' और 'मायादर्पण' की कविताओं में एक गुणात्मक अंतर आया। जब एक भावुक किशोर की दुनिया बदलकर एक संघर्षशील नवयुवक की महत्वाकांक्षी दुनिया में रूपांतरित हो गई। जहां चारों तरफ अधिकार था। 'मायादर्पण' की कविताओं को पढ़ते हुए लगता है कि एक नाराज़ नवयुवक किस तरह अपने ज़माने में बेगाना हो गया है। उसे

यह समाज, देश, परिवार, व्यवस्था सब कुछ सड़ा हुआ और एक अजीब तरह की विडम्बना का शिकार हो गया लगता है। समाज, परिवार की इस बिडम्बना और विसंगति को श्रीकांत वर्मा की कविताओं ने एक तीखी अभिव्यक्ति दी। उस दौर की कविताओं को पढ़कर लगता है कि श्रीकांत वर्मा की कविताएं नाराज़ नवयुवकों की दुनिया की कविताएं हैं ! जिसमें उनकी दुनिया को गौर से देखा जा सकता है। उस दौर में श्रीकांत वर्मा की जो कविताएं ज़्यादा लोकप्रिय हुईं उनमें मायादर्पण, बुखार में कविता, दिनचर्या, घर धाम, समाधि लेख, अंतिम वक्तव्य, काफी लोकप्रिय हुई थीं। मुझे उनकी दो कविताएं 'समाधी लेख' और 'मायादर्पण' बहुत अच्छी लगती हैं, जिसमें एक संघर्षशील नवयुवक की ज़िंदगी का बहुत ही मार्मिक चित्रण है। एक उदाहरण :

मैं उठता हूं और उठकर
खिड़कियां, दरवाज़े
और कमीज़ के बटन
बंद कर लेता हूं
और फुर्ती से एक कागज़ पर लिखता हूं
मैं अपनी विफलताओं का प्रणेता हूं (समाधि लेख)

मैं अपनी करतूतों का दरोगा हूं
नहीं, एक रोजनामचा हूं
मुझमें मेरे अपराध
हूबहू कविताओं से
दर्ज हैं
मर्ज़ हैं
जितने
उससे ज्यादा इलाज हैं। (मायादर्पण)

श्रीकांत वर्मा का तीसरा काव्य संग्रह १९७३ में आया 'जलसाघर'। 'जलसाघर' की कविताओं में अंतर्राष्ट्रीय भूगोल को पकड़ने की कोशिश की गई है। इस पूरे संग्रह का मुख्य थीम है—युद्ध का खौफ़, जिससे पूरी दुनिया पिछली शताब्दी से आक्रांत है। श्रीकांत वर्मा ने इन कविताओं में दुनिया के इस भयानक संकट को एक भयानक खबर की तरह प्रस्तुत किया है। पूरा संग्रह युद्ध की भयानक खौफ़ से घिरा हुआ है, जहां दुनिया भर के ऐतिहासिक नायक-प्रतिनायक युद्ध का रिहर्सल कर रहे हैं। इस काव्य संग्रह की एक छोटी किंतु महत्वपूर्ण कविता है —'कलिंग' जिसका नायक है अशोक। इस अशोक के बहाने कवि ने दुनिया में शांति और अमन की बात की है—

केवल अशोक लौट रहा है
और सब
कलिंग का पता पूछ रहे हैं
और सब
हंसते-हंसते दोहरे हो रहे हैं
केवल अशोक ने शस्त्र रख दिये हैं
केवल अशोक
लड़ रहा था। (कलिंग)

१९८४ में जब श्रीकांतजी का पांचवां काव्य संग्रह 'मगध' प्रकाशित हुआ तो काफी चर्चा हुई। खासतौर से इस काव्य संग्रह में काव्य वस्तु की बदली हुई मनोभूमि को लेकर जिसका वर्ण्य विषय आज से हज़ारों साल पुराना है। कई लोगों ने आलोचना भी की कि श्रीकांतजी अपनी कविता में पलायन कर चुके हैं। पर सच्चाई यह है कि इस संग्रह की कविताओं में श्रीकांतजी ने अपने समय की राजनीति, समाज और मनुष्य की नियति को एक ऐतिहासिक संदर्भ में पकड़ने की कोशिश की है। तब मगध, हस्तिनापुर, अवंती, कोशल ये सब इतिहास के पुराने राज्य नहीं लगते बल्कि हमारे वर्तमान देश का भूगोल नजर आते हैं। इतिहास के नायक अशोक, बिम्बसार, अजातशत्रु, कालिदास, शकटार, वसंतसेना, वासवदत्ता, आम्रपाली, केवल अतीत के ऐतिहासिक पात्र ही नहीं रह जाते, बल्कि हमारे समय की राजनीति की मूल्यहीनता, सत्ता की निस्सारता, पदों की होड़, जी हजूरी चाटुकारिता के नंगे यथार्थ बन जाते हैं।

तुम भी तो मगध को ढूंढ़ रहे हो
बंधुओ
यह वह मगध नहीं
तुमने जिसे पढ़ा है
किताबों में
यह वह मगध है
जिसे तुम मेरी तरह गंवा चुके हो। (मगध)

'मगध' की कविताओं को पढ़ते हुए एक बात बार-बार उभरती है जो सच्चाई भी है, कि श्रीकांतजी इधर के वर्षों में राजनीति में पूरे तौर से सक्रिय हो जाने के बावजूद समकालीन राजनीति की मूल्यहीनता से बुरी तरह चिंतित थे। मुझे लगता है कि उनके लेखक और राजनीतिज्ञ के बीच बराबर एक द्वन्द्व छिड़ा रहता था कि कौन बड़ा है, कौन सही है। किंतु उसका उत्तर उन्हें महासचिव पद से हट जाने के बाद मिला कि उनका राजनीतिज्ञ उनके लेखक के सामने बहुत छोटा है। राजनीति में दो दशकों से जुड़े रहने के बावजूद वे राजनीति के व्यक्ति नहीं बन सके। क्योंकि वे मूलतः कवि थे जो किसी का अनावश्यक हस्तक्षेप अपने अस्तित्व के खिलाफ़ मानते थे। उनके व्यक्तित्व में एक गहरा स्वाभिमान था। उनके इस स्वाभिमान की झलक उनकी कविता में भी मौजूद है।

श्रीकांत वर्मा की कविता इसलिए और अच्छी लगती है कि इस कवि में आत्म स्वीकार और आत्मान्वेषण की शक्ति सबसे ज़्यादा हैं। एक दौर में जब कविता में दूसरों को नैतिकता का पाठ पढ़ाना और तमाम कवि अपने को जनता से एक खास ऊंचाई पर स्थापित करके दूसरों को उपदेश देते रहे, उस समय श्रीकांत वर्मा की कविताएं स्वयं की आलोचना कर रही थीं, अपनी ग़लतियों पर पछता रही थी। अशोक वाजपेयी की यह प्रतिक्रिया सही है कि "श्रीकांत वर्मा की कविताएं स्वयं के खिलाफ़ चलाया गया मुक़दमा लगती हैं, जिसमें कवि स्वयं अपराधी, वकील और न्यायाधीश तीनों है। ये कविताएं आज के समय के ज़्यादा वास्तविक, पठनीय और महत्वपूर्ण लगती हैं।"

एक बार मैंने श्रीकांतजी से उनकी एक कविता का उद्धरण रखकर पूछा कि 'औरों के साथ दग़ा करती है स्त्री—मेरे साथ मैंने खुद दग़ा किया है।' आपने ऐसा क्यों लिखा ? श्रीकांत जी कुछ देर तक ख़ामोश रहे फिर गंभीर होकर बोले "जहां तक इस पंक्ति का मेरे जीवन से निजी

सवाल है वहां यह है कि मेरे मन में स्त्रियों को लेकर बराबर सम्मान का भाव रहा है। क्योंकि एक औसत स्त्री एक आम पुरुष से ज़्यादा वफ़ादार, ज़्यादा ईमानदार और ज़्यादा संवेदनशील होती है। जबकि पुरुष स्त्री की तुलना में ज़्यादा फरेबी और दग़ाबाज़ होते हैं। स्त्री का गुण ही है—बराबर विश्वास को बनाये रखना और पुरुष का स्वभाव होता है—उसके विश्वास को तोड़ते रहना, इसीलिए मैं स्त्री को बहुत ही आस्था की निगाह से देखता हूं।" फिर उन्होंने हंसते हुए कहा, "मेरा ख्याल है अब कविता की पंक्ति का आशय आप समझ गये होंगे।"

श्रीकांतजी ने अपने तीस-पैंतीस वर्षों के साहित्यिक जीवन में कविता के अलावा कहानी, आलोचना, रिपोर्ताज, संस्मरण, साक्षात्कार और एक उपन्यास भी लिखा। चर्चा होने पर वे कहा करते थे कि "मैं मूलत: अपने को कवि मानता हूं, कविता मेरे जीवन और मेरे लेखन का मूल स्वभाव है। इसके अलावा कहानी, उपन्यास मैंने इसीलिए लिखा कि वह कविता में कहना संभव नहीं था।" खासतौर से 'दूसरी बार' उपन्यास की चर्चा आने पर उन्होंने कहा, "जितना कठिन है प्रेम करना और प्रेम को निभाना, उतना ही कठिन है प्रेम का साहित्य में लिखना। मेरे लिए इसीलिए प्रेम कविता लिखना बराबर एक कठिन विषय रहा। मैंने 'दूसरी बार' उपन्यास इसीलिए बाद में लिखा कि उस अनुभव को कविता में कहना असंभव था।"

इसके अलावा श्रीकांतजी ने जो कहानियां लिखी हैं वह प्राय: घूम-फिरकर प्रेम के इर्द-गिर्द मंडराती रहती हैं। लेकिन उन कहानियों का शिल्प और श्रीकांतजी की वर्णनात्मक क्षमता काफ़ी प्रभावशाली और उत्तेजक है। इन कहानियों की दुनिया में 'शव यात्रा' और 'झाड़ी' जैसी कहानियां हैं, जिन्हें पढ़कर मानवीय विडंबना की क्रूरता का चरम अहसास मिलता है। मैं समझता हूं ये कुछ कहानियां उनके जीवंत कथाकार होने के अर्थ को परिभाषित करती हैं।

विडंबना यह रही कि श्रीकांतजी एक लंबे समय से राजनीतिक दुनिया में रहते-रहते उसके 'सुख के नरक' का तीव्र अहसास कर चुकने के बाद जब पुन: जीने, खुद को पुन: रचने का संकल्प लेकर साहित्य में फिर सक्रिय होकर अपने संसार में वापस लौटना चाहते थे, ऐसे समय में कैंसर का यह आघात उन्हें मृत्यु के मुहाने तक पहुंचा गया। जिस मृत्यु से अपना पीछा छुड़ाने के लिए आज से ढ़ाई साल पहले 'बाई पास सर्जरी' कराकर वे स्वस्थ हो चुके थे, अचानक कैंसर की खबर सुनकर वे हतप्रभ हो गये। हालांकि यह आपरेशन बहुत मामूली था। कैंसर की प्रारंभिक अवस्था थी, जिससे वे छुटकारा पा सकते थे। किंतु आपरेशन के दौरान शरीर के और अंगों ने साथ देना छोड़ दिया। श्रीकांतजी मशीनों के सहारे कुछ दिनों मृत्यु से लड़ते रहे, अंत में मशीनों ने भी साथ नहीं दिया।

श्रीकांतजी की मृत्यु के बाद जब मैंने उनकी 'नियति' जैसी कविता पढ़ी तो मैंने अनुभव किया कि वे वर्षों से मृत्यु से लड़ रहे थे, मृत्यु लंबे समय से उनका पीछा कर रही थी। 25 मई को श्रीकांतजी के साथ जो कुछ हुआ वह महज उस मृत्यु संघर्ष की परिणति थी। कविता की अंतिम पंक्तियां इस तरह हैं—

इसलिए भाइयो / जिनका नाम रजिस्टर में दर्ज है
उनसे मेरी अर्ज है / इस तरह मत मरो / मौत से डरो। (नियति)

[आवास-१, तीनमूर्ति लेन, नयी दिल्ली-११००११]
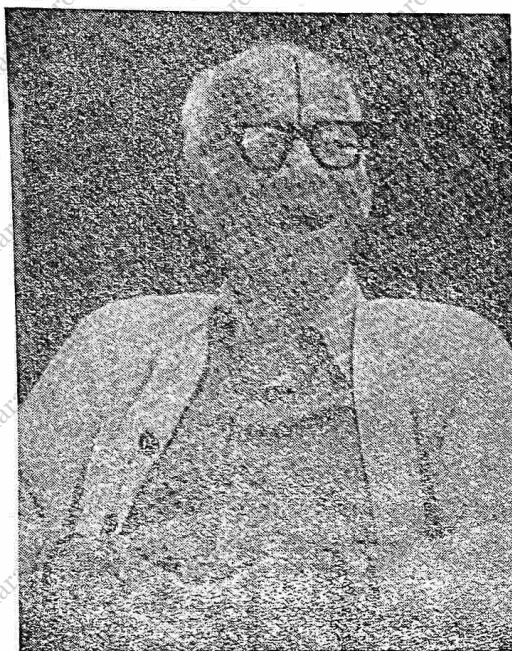
विचित्र प्रेम

□ मास्ति वेंकटेश अय्यंगार

फ्रांस का महान् साहित्यकार वाल्टेयर फ्रांस की राजधानी पेरिस में एक शाम मनोरंजन-गृह में बैठा था। एक हरकारे ने आकर वहां के एक सेवक को वाल्टेयर को बाहर भेजने को कहा। वाल्टेयर ने द्वार पर आकर पूछा, "क्या बात है?" हरकारे ने कहा, "चाटलाइट महाप्रभु ने एक समाचार भेजा है। उनकी साम्राज्ञी ने कल एक शिशु को जन्म दिया है। उनकी हालत बड़ी नाजुक है। वे आपको देखना चाहती हैं।"

वाल्टेयर का दिल धक् से रह गया। चाटलाइट की रानी दो वर्ष पूर्व इसकी प्रेयसी थी। पता नहीं कितने वर्ष उसने अपने पति को पति न मानकर, इसी बुद्धिमान के साथ पति के समान व्यवहार करके इसके जीवन को आलोकित कर दिया था, सुख से भर दिया था। कई वर्ष इसी प्रकार रहने के बाद उसने एक दिन अपना स्नेह व्यक्त करना बंद कर दिया। इसे ऐसा लगा मानो जीवन का आधार ही छिन गया हो। न चाहने वाली स्त्री के पास ठहरने का मन न हुआ इसलिए उसे छोड़कर यह दूर चला आया था।

इसकी प्रेयसी के इस प्रकार बदल जाने का कारण इसे कुछ ही दिन बाद पता चल गया। सेंट लैम्बर्ट नाम का एक तरुण उस रानी के स्नेह का भाजन बन गया था। सुंदरी ने सुंदरता का वरण कर लिया था और इसे दूर कर दिया था।

सेंट लैम्ब्रर्ट तरुण और सुदर्शन भी था और यह न तो तरुण था और न ही सुदर्शन ही। रानी के उसके सौंदर्य से प्रभावित होकर इस कुरूप से दूर हटने में कोई आश्चर्य की बात न थी। पर जब उसने प्रेम दर्शाया था तब भी यह तरुण न था और न सुंदर था। तब भी यह कुरूप ही

था। तब सुंदर तरुण और राजा लोग कितने थे। उसने इससे प्रेम क्यों किया? स्नेह क्यों दिखाया? प्रसन्न क्यों किया? प्रेम करके, स्नेह दिखाकर, प्रसन्न करके, कुछ वर्ष साथ बिताकर क्या इस प्रकार एकदम छोड़ देना चाहिए?

तब जिस स्त्री ने मुझसे इतनी निष्ठुरता दिखाई और कठोर व्यवहार किया वही आज मुझे देखना चाहती है। क्या मुझे जाना चाहिए? उसका पति वहीं होगा, उससे मिलना ठीक होगा क्या? सेंट लैम्बर्ट भी वहां हो सकता है। क्या उससे भी मिलना होगा? जाने पर सबसे बात करनी पड़ेगी—उस पति से, इस प्रेमी से, मुरझाकर मृत्युशैया पर पड़ी-पड़ी उस प्रेमिका से। पर क्या बात करनी होगी?

ये सब विचार बिजली के समान उसके मन में कौंध गये। तब वाल्टेयर ने हरकारे से कहा, "समाचार पहुंचाकर तुमने बड़ा उपकार किया। अब तुम जाओ। सम्राट से मेरा नमस्कार कहना और यह भी निवेदन करना कि मैं तुम्हारे पीछे-पीछे ही पहुंच रहा हूं।"

मनोरंजन-गृह के भीतर जाकर अतिथेय से अनुमति लेकर वाल्टेयर अपने निवास पर गया और वहां से तेजी से चाटलाइट किले की ओर चल पड़ा।

राह में जाते हुए वह उस प्रेयसी के साथ बिताये जीवन के बारे में विचार करने लगा। सम्राज्ञी इसके जीवन को तृप्त करने वाली केवल एक प्रेमिका भर नहीं थी बल्कि इसकी बातें सुनकर पसंद करने वाली भी थी; और अपने विचारों के अनुसार समझदारी से राय देने वाली थी। उसने यह लिखो, वह लिखो, ऐसा कहकर इसे प्रेरित किया था। लिख लेने पर सबसे पहले उसे सुनती थी और सुनकर अमुक को छोड़ने और अमुक को जोड़ने का सुझाव भी देती थी। इसके भौतिक शास्त्र के प्रयोगों के लिए उसने राजमहल में ही एक प्रयोगशाला बनवा दी थी। वहां इसके साथ ही उसने प्रयोग भी किये थे। कई बार इसको न दिखाई देने वाली चीजें भी उसने देखकर स्पष्ट की थीं। इन दोनों का जीवन केवल शारीरिक आकर्षण मात्र ही नहीं था बल्कि ये दोनों एक जान दो शरीर होकर जीये थे।

चाटलाइट के राजमहल पहुंचने ही इसे सामने सम्राट ही मिले और एक अत्यंत प्रिय मित्र की भांति इसका स्वागत करते हुए बोले, "साम्राज्ञी बहुत ही दुर्बल हो गयी हैं। शायद बचेंगी नहीं। उन्होंने आपको देखने की इच्छा व्यक्त की इसीलिए मैंने आपको कष्ट दिया।" उनकी बातों में 'यह मुझसे मेरी पत्नी छीनने वाला दुष्ट है,' इस प्रकार के द्वेष की गंध मात्र भी न थी। एक पतिव्रता पत्नी किसी शुद्ध मन वाले अपने प्रिय बंधु को देखने की इच्छा प्रकट करती है तो पति जैसा व्यवहार करता है, सम्राट का व्यवहार ठीक वैसा ही था।

वाल्टेयर ने जीवन के बहुत से रंग देखे थे और स्वयं भी कई तरह का जीवन बिताया था। मानव का व्यवहार उसे बहुत कम ही अपवाद के रूप में दीखता। उसकी प्रेयसी साम्राज्ञी के पति, सम्राट के इस समय के व्यवहार ने वाल्टेयर को आश्चर्य में डाल दिया।

भीतर जाने पर इसकी अपेक्षानुसार इसे सेंट लैम्बर्ट दिखाई दिया। चाटलाइट के महाराज ने लैम्बर्ट से कहा, "वाल्टेयर साहब पधारे हैं। साम्राज्ञी का हाल जानकर क्या इन्हें भीतर ले जा सकेंगे?" लैम्बर्ट आगे आया। उसने झुककर उसे इस रीति से नमस्कार किया मानो यह दिखा रहा हो कि वाल्टेयर उससे बहुत बड़ा है।

वाल्टेयर ने उसका नमस्कार स्वीकार करके उसके हाथ थामकर पूछा, "आप कुशल तो हैं?" और उसके उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही सम्राज्ञी के स्वास्थ्य के बारे में पूछा। उन

दोनों के बीच जब ये औपचारिकताएं चल रही थीं, तब सम्राट बाहर चले गये। सेंट लैम्बर्ट बोला, "साम्राज्ञी के बचने की आशा नहीं है। इसलिए उन्होंने आपसे मिलने की इच्छा व्यक्त की है।"

"मैं यमराज तो नहीं न ?" कहकर वाल्टेयर हंस पड़ा।

सेंट लैम्बर्ट बोला, "साम्राज्ञी ने जब आपको याद किया था तब उन्होंने मुझसे पहले ही कह दिया था कि आप यह कहेंगे। आपने एक बात कही थी वही हम दोनों ने याद की थी।"

"उन्होंने क्या कहा था ?"

"बताने में संकोच होता है।"

"संकोच किस बात का ? जब भी वे मुझे अपना चुंबन देतीं तब मुझे लगता था कि जीव मृत्यु को चूम रहा है। यह बात मैंने उनसे कही भी थी। क्या इसी बात का उन्होंने आपसे उल्लेख किया था ?"

"जी हां।"

"और क्या कहा था ?"

"वह भी बताने में संकोच होता है।"

"उन्होंने मुझे उसके प्रत्युत्तर में, "जीव मृत्यु को नहीं, नश्वर सौंदर्य अनश्वर सौंदर्य को चुंबन दे रहा है" यह भी बताया था क्या ?"

"जी हां, उसका और मेरा सौंदर्य नश्वर सौंदर्य है, मिट्टी का है। आपका सौंदर्य अमर-चेतन का सौंदर्य है, यह भी बताया था क्या ?"

"जी हां।"

जी "हां, उसका और मेरा सौंदर्य नश्वर सौंदर्य है, मिट्टी का है। आपका सौंदर्य अमर-चेतन का सौंदर्य है" यह उनका कहना था।"

"फिर भी उस सौंदर्य ने इस सौंदर्य को त्याग दिया था।"

"उन्होंने कहा था, एक नश्वर का मिलाप जैसा नश्वर से हो सकता है वैसा अनश्वर से नहीं। मैं तुम्हारे साथ चल सकती हूं। मैं वाल्टेयर की बराबरी नहीं कर सकती।"

वाल्टेयर ने कोई उत्तर न दिया। वह यह जानता था कि साम्राज्ञी ने जो कुछ कहा वह उसके दिल से निकली बात है। साम्राज्ञी अत्यधिक सुंदर है साथ ही उतनी ही चतुर भी है। साथ ही उतनी ही साहसी भी। संभ्रांत घर में जन्म लेकर उससे भी संभ्रांत घर में ब्याही गई। पति और उसकी आयु में काफी अंतर था। उनके समाज में पत्नी की ऐसे प्रसंगों में अन्य पुरुष के साथ घनिष्ठता अपराध नहीं था। केवल जनता की आंखों में पड़ने लायक अविवेक नहीं होना चाहिए था। उसने स्वयं देखा था कि वह पति के प्रति प्रेम दिखाती और उससे प्यार भी पाती रही। ऐसा होते हुए भी इससे प्रेम करना छोड़कर लैम्बर्ट से प्यार करने लग गई थी। तब भी उसने पति के प्रति प्रेम बराबर बनाए रखा। सचमुच में वह जितनी सुंदरी थी उतनी ही चतुर और उतनी ही साहसी भी थी।

"खैर, मुझे इसे छोड़े एक वर्ष से ऊपर हो गया। एक बार छोड़ देने के बाद उसने मुझे फिर क्यों बुलाया ?"

वाल्टेयर जब इस सोच में पड़ा था तब सेंट लैम्बर्ट ने साम्राज्ञी के कमरे के पास जाकर दासी से कहा, "साम्राज्ञी के जागते ही खबर देना कि वाल्टेयर पधारे हैं।"

साम्राज्ञी जाग ही रही थी, उसकी बात सुनते ही अत्यन्त क्षीण पर प्रसन्न स्वर में बोली, "आ गए ? तुरन्त भीतर लिवा लाओ।"

दासी ने और कुछ नहीं कहा। सेंट लैम्बर्ट ने वाल्टेयर के पास आकर साम्राज्ञी की इच्छा व्यक्त की। वाल्टेयर भीतर गया।

साम्राज्ञी के पलंग की ओर जब यह जा ही रहा था तब उसकी आंखों में इसके प्रति आदर उमड़ रहा था। वह बोली, "आ गये फ्रॉकाय ? मुझे यह डर था कि तुम कहीं 'चिढ़कर नहीं आऊंगा' तो नहीं कह दोगे" यह कहकर अपने दोनों हाथ उसकी ओर पसारे।

वाल्टेयर उसका मद्धिम स्वर सुनते ही दुखी हो उठा। कांसे का स्वर, चमकती आंखें, आकर्षक भौंहें, मुस्कान से भरे होंठ, स्फूर्ति से भरा व्यक्तित्व—ऐसी थी उसके मन में साम्राज्ञी की छवि। वह छवि अब ऐसी हो उठी है। पास जाकर उसके हाथों को चूमता हुआ वह बोला, "आप कहला भेजतीं तो क्या मैं आता नहीं ?" साम्राज्ञी ने पलंग के पास पड़ी कुर्सी की ओर संकेत किया। वह उस पर बैठ गया।

साम्राज्ञी बोली, "मुझे पता था, क्या मैं नहीं जानती थी कि तुम्हारे उन्नत मन और सांसारिक क्षुद्र विचारों में कितना अंतर है ?"

"मैं इतना ऊंचा नहीं हूं जितना तुमने समझ रखा है। यह मुख जितना कुरूप है, यह मन भी उतना ही विरूप है। बुद्धि ही थोड़ी-सी तेज है। पर केवल उतने से ही सभी कुछ अच्छा नहीं हो जाता।"

"ठीक है। यहां तो मुख भी कुरूप है, मन भी विरूप है, बुद्धि भी मोटी है, यह दुनिया है। इस भाग्यहीन संसार में तुम जैसे ही लोग प्रकाश के स्तंभ होते हैं।"

"अच्छा छोड़ो, अब तुम कैसी हो ?"

"अब कहने और बताने का समय नहीं रहा। तुम्हारे आने की प्रतीक्षा में एक दिन को सांसें अटकी थीं। अब उनका काम निबट गया।"

"छि: ! इस तरह कहीं धैर्य छोड़ते हैं ?"

"यहां धैर्य की बात ही नहीं। मैं सेंट लैम्बर्ट जैसे मुख वाले एक बच्चे की मां बनना चाहती थी। बच्चे को जन्म दिया। वह रहा नहीं। इतने दिन बांझ रहने के बाद, इस उमर में मां बनने की इच्छा करना ग़लती थी। जीवन ने मुझे मृत्यु-दण्ड दिया। मैंने स्वीकार कर लिया।"

साम्राज्ञी की ये बातें सुनने पर वाल्टेयर को लगा कि वह एकदम सत्य कहती है। सौंदर्य विहीन उस घर में उस सुंदर आत्मा ने इसे चौदह वर्ष तक आनंद से आप्लावित किया था। उसके जीवन में आनंद की सरिता बहाई थी। उसे लुकाव-छिपाव, कपट-कुटिलता आदि छूकर भी नहीं गए थे। वह आत्मा कितनी महान है, इतनी बात भी यह समझ नहीं पाया था। उसने इसे छोड़कर सेंट लैम्बर्ट का वरण किया, इस बात पर जो क्रोध इसके मन की तह में छिपा था वह एकदम जाता रहा।

थोड़ी-सी देर के लिए उसका मन यह भूल गया कि उस स्त्री ने उससे कभी प्यार किया था। उस क्षण उसके सामने केवल एक स्त्री थी। एक सुंदर साहसी स्त्री जो जवानी में ही मृत्यु के द्वार पर जा खड़ी हुई है, यह सुख उसके मन में भर उठा था।

एक क्षण भर को चुप रहकर वह बोला, "तुमने ऐसी दशा में मुझे देखने को क्यों

बुलाया ?"

"आंखें मूंद लेने से पहले मेरी आत्मा को तृप्त करने वाले आप तीनों को एक साथ आंख भरकर देखने की इच्छा से ।"

"तुमने तो ऐसा कह दिया, पर उन तीनों के बारे में भी तुमने सोचा ?"

"सोचा था । तुम तो बुद्धि के आगार हो । तुम्हें तो इससे दुख नहीं होगा । सेंट लम्बर्ट एक शिशु जैसा आदमी है, जो मैं चाहती हूं वही उसे पसंद है । उसके मन में स्वार्थ नहीं । मेरे प्रभु उदारमना हैं । विवाह के दिन उन्होंने मुझसे कहा था, "मैं यह नही मानता कि तुम केवल मेरी पत्नी बनकर आई हो । मैंने कभी पत्नी को दासी नहीं माना । पति-पत्नी के संबंध में जो पति को पसंद हो वह पत्नी को भी होना चाहिए । मेरी दादी जीवन का यह सूत्र बताया करती थी ।" तब मैंने कहा, "मुझे भी लगता है कि उस सूत्र में न्याय है । एक स्त्री की कही बात दूसरी स्त्री को भला पराई कैसे लग सकती है ? पर क्या पुरुष यह मान सकता है ?" इस पर प्रभु ने, "मैं मानता हूं" कहकर हाथ पर हाथ रखा । मैंने कहा, "कहने और करने में बड़ा अंतर है ।" प्रभु ने कहा "हो सकता है आसान न हो पर मैं इसे निभाऊंगा ।"

"यह बात तुमने कभी नहीं बताई ?"

"तुमने कभी उनकी बात उठाई ही नहीं इसलिए मुझे बताने की जरूरत ही नहीं पड़ी ।"

"मैं तो पहले से ही जानता था कि तुम एक असाधारण महिला हो पर कितनी असाधारण हो, यह इस क्षण तक पता न था और उतने ही निश्चित रूप से यह तो जानता ही न था कि तुम्हारे प्रभु असाधारण है ।"

"वे अत्यंत असाधारण पुरुष हैं । एक वर्ष साथ रहने के बाद जब उन्हें अपनी सूना के साथ बाहर जाना पड़ा तो उन्होंने स्वयं कहा कि तुम्हें वाल्टेयर बहुत पसंद है । उन्हें राजमहल में अतिथि के रूप में आकर रहने को कहला भेजो । उनकी उस बात पर ही मैंने तुम्हें आमंत्रित किया था और तुम यहां आकर ठहरे । एक मास तक तुम्हारा सत्कार करने के बाद वे वहां गए । मैं पति को धोखा देने वाली कुल्टा नहीं और वे पत्नी का दुर्व्यवहार असह्य होकर सहन करने वाले भी नहीं ।"

"उनके बारे में ये सब बातें मेरे लिए नयी हैं । अब तेरी समझ में आ रहा है कि कुछ क्षण पूर्व जब मैं यहां आया तब उन्होंने इतने निष्कलमष भाव से मेरा स्वागत कैसे किया और भीतर वाले कमरे में सेंट लैम्ब्रर्ट कैसे बैठा था ।"

"जी हां । मेरे प्रभु यदि छोटे मन के आदमी होते तो मेरे जीवन की रीति कुछ और ही होती और मैं इस घर में नहीं रहती ।"

"घर में नहीं रहती ?"

"यह बात नहीं कि वे मुझे घर से निकाल देते पर उससे पहले मैं स्वयं ही चली जाती ।"

"मैं इस बात पर विश्वास कर सकता हूं ।"

"मुझे इससे संतोष है । 'मानव जाति की स्त्री मानवी है, वह कुतिया नहीं । उसके लिए पर पुरुषों का कुत्तों की तरह आपस में लड़ना उचित नहीं' तुम्हारी एक बार की कही बात मुझे याद है । वह बात सब स्त्री-पुरुषों को याद रखनी चाहिए । यदि ऐसा हो तो जीवन बहुत सुखी होगा ।"

"कौन-सी बात ?"

"जो प्रेम न करे वह मेरे लिए स्त्री नहीं, जो सहन न करे वह तुम्हारे लिए पुरुष नहीं।"

"सही तो है।"

"मेरी सांसें डूब रही हैं। कल सुबह से पहले इन सांसों का काम खत्म हो जाएगा। अगर आज रात ठहर सको तो ठहर जाओ।"

"ठहरूंगा।"

"मुझे इस बात का दुख नहीं कि मैं इतनी जल्दी दुनिया से जा रही हूं। एक स्त्री को जो-जो चाहिए वह सब कुछ मैंने पाया है।"

"अच्छा यह बात है?"

"नहीं तो क्या? मेरे प्रभु ने मुझे पद दिया और तुमने एक बुद्धिमान का प्रेम दिया।

"और?"

"बताऊं? सेंट लैम्बर्ट ने रूप के अनुभव का सुख दिया और मैं तृप्त हो गई।"

साम्राज्ञी ने फिर अपने दोनों हाथ वाल्टेयर की ओर फैलाए। उसने उन पर चुंबन दिया और आंखों से लगाया। साम्राज्ञी ने बड़े प्यार से उसके सूखे गालों को सहलाया।

उसका प्यार वाल्टेयर को दया का भंडार-सा महसूस हुआ। वह उठकर कमरे से बाहर चला आया। साम्राज्ञी की बातों ने प्लेटो के अपने आदर्श राष्ट्र में स्त्री मनोधर्म के बारे में जो बातें कही थीं, वे सब याद दिला दीं।

उस रात साम्राज्ञी परलोकगामिनी हुई। सुबह तक आसपास के संबंधी एकत्रित हो गए। उसे उसी दिन मिट्टी देने का निश्चय किया गया। वाल्टेयर उसकी अंतिम यात्रा के राजमहल से निकलने तक, सम्राट् और सेंट लैम्बर्ट के साथ खड़ा रहा। उसके जाते ही वह पेरिस की ओर चल पड़ा।

जाने से पहले उसने सम्राट् से कहा, "साम्राज्ञी ने बताया था कि आप कितने असाधारण और महान् व्यक्ति हैं।"

सम्राट ने कहा, "वे बहुत समझदार थीं। यह उदारता तो केवल एक सभ्य व्यवहार है। उन्होंने मुझे पसंद किया था, यह उनकी उदारता थी।" एक क्षण बाद फिर से बोले, "आप फ्रांस के अत्यंत बुद्धिमान महापुरुष हैं, आपने उनसे कहा था कि उनका एकमात्र दोष यह है कि उन्होंने स्त्री होकर जन्म लिया।" फिर रुककर बोले, "उनका स्त्री होना ही महादोष हुआ।" आंखों में उमड़े आंसू रोकने के लिए उन्होंने दूसरी ओर मुंह फेर लिया।

वाल्टेयर की आँखों में भी आंसू उमड़ आये पर उसने अपने को रोका। वह सम्राट का हाथ थामकर ज़ोर से दबाकर चार कदम की दूरी पर खड़े सेंट लैम्बर्ट के पास गया। सेंट लैम्बर्ट उससे बोला, "आपका आना बहुत अच्छा रहा। साम्राज्ञी ने बहुत शांति से आंखें मूंदी।"

"जी हां, आपको कहलाकर भेजते समय ही उन्होंने मुझसे कहा था—'वाल्टेयर यदि आ गये तो एक बात मेरे मन में साफ हो जाएगी। संसार को चलाने वाली एक शक्ति है, यह मैं जानती हूं। वह जितनी शक्तिशाली है उतनी ही क्षमाशील भी है। जहां तक मैं समझती हूं, मैंने किसी को धोखा नहीं दिया। यह नहीं कह सकती कि वह ठीक ही था। समाज इसे ठीक नहीं कहता परंतु दुनिया को बनाने वाली शक्ति ने हमें ऐसा बनाया है। समाज का सही या ग़लत, समाज के लिए ही ठीक है, भगवान के सामने एक ही बात सही हो सकती है, वह है वचनहीन

होना। वाल्टेयर ने यदि मुझे क्षमा कर दिया तो यह निश्चित है कि भगवान मुझे क्षमा कर देगा। धोखा न देने पर भी मैंने तुम सब लोगों को कष्ट दिया। मैंने भगवान को किसी प्रकार कष्ट नहीं दिया। कष्ट भोगने वाला समझदार व्यक्ति ही यदि मुझे क्षमा कर दे तो माता-पिता के समान भगवान कभी क्रोध करेगा क्या ?"

वाल्टेयर, "उन्होंने यह कहा था ? साम्राज्ञी गणितशास्त्र में दक्ष थी। उस बुद्धि को जो बात सूझी उसमें सत्य अवश्य होगा। पर आप तो उसका ऐसे वर्णन कर रहे हैं जैसे आपने उसे कंठस्थ कर रखा हो।"

"यह बात उन्होंने चार-पांच बार कही थी। इसलिए अपने आप याद हो गई। इसके अलावा यह बात मुझे पसंद भी आई थी।"

"यह बात ठीक है। यह बात तो ऐसी है जो सभी को पसंद आएगी।"

यह कहकर वाल्टेयर ने सेंट लैम्बर्ट का हाथ पकड़कर प्रेम से दबाया और उससे अनुमति लेकर पेरिस की ओर चल पड़ा। भगवान के बारे में कही साम्राज्ञी की बात उसके मन पर छायी हुई थी।

प्रस्तुति : पवित्रा त्यागी
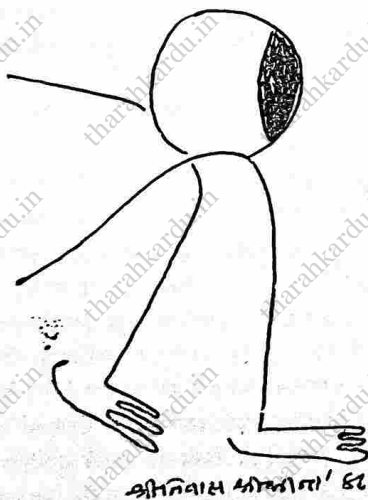
शब्द की सत्ता

☐ निर्मल वर्मा

मुझे बहुत प्रसन्नता है कि आज मैं शिमला में आप सब लोगों के बीच आपकी कहानियां सुनने का सुअवसर प्राप्त कर सका। मैं एक ऐसे शहर के जीवंत साहित्यिक जीवन का कुछ परिचय पा सकूंगा जिस शहर के साथ मेरा एक गहरा आत्मीय लगाव रहा है।

दरअसल देखा जाए तो कहानी लिखना या कविता लिखना बहुत अकेलेपन की चीज़ है। और जबकि अन्य विधाओं के कलाकारों को—संगीतकार या नाट्य अभिनेता या निदेशक हो, इससे तात्कालिक रूप से अपने श्रोताओं के निकट संपर्क में आने का अवसर मिलता है और तुरंत इनकी प्रतिक्रियाओं को जानने का आनन्द भी प्राप्त होता है। यह अवसर जैसा कि आप जानते ही हैं, एक लेखक को बहुत अरसे तक नहीं मिल पाता। कहानी लिखते हैं फिर वह एक लंबी यातनामय प्रक्रिया से गुज़रती है। संपादक को भेजते हैं। फिर वह पत्रिका या किताब में छपती है और फिर भी महीनों, वर्ष गुज़र जाते हैं और लेखक को पता भी नहीं चलता कि किसी दूर-दराज़ शहर या कस्बे में बैठे पाठक ने उनकी कहानी या कविता को पढ़कर क्या महसूस किया। कभी-कभी उसके पास पत्र आ जाते हैं, या जो कम कहा जाय हमारी जैसी आलोचना की गरीब स्थिति है, कभी उसे बहुत ही संयोग प्राप्त होता है कि अपनी कहानी या अपनी पुस्तक की भाव-प्रवण, विवेकशील सहानुभूति संपन्न समीक्षा पढ़ने को मिल सके, जो एक दुर्लभ चीज़ होती जा रही है। इसलिए जब कुछ ही दिन पहले आयोजक मेरे पास आये, कि इस तरह का कोई रचनाकार शिविर है, तो मुझे खुशी हुई कि एक मौका मिलेगा जब युवा लेखकों के साथ बैठ कर कहानी की रचना-प्रक्रिया पर बिल्कुल प्रत्यक्ष, आत्मीय स्तर पर बातचीत हो सकेगी।

देखा जाए तो कहानी, उपन्यास या कविताओं पर जो परिचर्चायें होती हैं वे काफी उबा देने वाली होती हैं। भाषणकर्ता आते हैं व्याख्यान देते हैं। लोग पैसिव और निस्संग बैठे रहते हैं। और किसी तरह का जीवंत विचारों का आदान-प्रदान नहीं हो पाता। मैं सोचता हूं कि किसी भी विधा को अमूर्त रूप से व्याख्येत करना अपने में एक बहुत ही व्यर्थ और निरर्थक चीज़ होती है। मैं पचास सूत्र बता दूं, सफल कहानी क्या होती है? आदर्श कहानी क्या होनी चाहिए? श्रेष्ठ कविता क्या हो? जब तक कविता की जीवंत मौजूदगी से हम संपर्क प्राप्त नहीं करते, तब तक हर बात बहुत कुछ हवाई, अमूर्त, एबस्ट्रेक्ट स्तर पर होकर रह जाती है। हम

चाहे उसमें कितने ही सूत्र क्यों न आरोपित करें। कितनी ही प्रगतिशीलता और जनवादिता के मुहावरों का इस्तेमाल करें। कितने ही सिद्धांतों को भिड़ा दें। लेकिन हम उस विलक्षण-क्षण को परिभाषित नहीं कर सकते। जब सचमुच एक कविता को पढ़कर हमारे भीतर का समूचा, न केवल मन, न केवल भाव, तन्त्र, बल्कि समूचा व्यक्तित्व व संस्कार आलोड़ित हो उठते हैं।

क्या चीज है? — शब्दों का चयन, बिम्बों की जीवंतता, वाक्यों का संयोजन, भाषा का जादू, वातावरण की सजीवता, मन के किसी गुह्य सत्य को विशिष्ट शब्दों द्वारा संप्रेषित करने की क्षमता; ऐसे अंधेरे कोनों को उजागर करने की दिव्य शक्ति जो कि हम हमेशा अपने भीतर महसूस करते हैं। लेकिन कभी भी भाषा के तन्त्र के भीतर बहुत कम समा पाते हैं। क्या जादू है? क्या मर्म है? क्या वह रहस्य है जिससे कि निराला की एक पंक्ति, प्रेमचन्द की एक कहानी, रेणु का एक बिम्ब, हम वर्षों याद करते रहते हैं। इसका कोई सीधा जवाब न देकर **मैं सिर्फ इतना ही कहूंगा कि जब लेखक को इस चीज में अदम्य विश्वास न हो कि एक दुर्लभ सत्य को केवल उसकी कहानी या कविता के माध्यम से ही संप्रेषित किया जा सकता है;** एण्ड देअर इज़ नो सब्स्टीच्यूट, आईदर फॉर द स्टोरी आर फॉर द पोईम। समाज शास्त्रीयता, दर्शन, धर्म, राजनीति कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं है, जिसके भीतर से वह सत्य संप्रेषित हो सके जो केवल कविता और कहानी के द्वारा हो सकता है। **जब तक कविता और कहानी की अनिवार्य पवित्रता को हम नहीं समझेंगे, तब तक साहित्य का हम दुरुपयोग करते रहेंगे, तब तक हम साहित्य के माध्यम से क्रांति मचायेंगे साहित्य के माध्यम से हम सुधार की बात करेंगे, साहित्य के माध्यम से धर्मशास्त्रों की बात करेंगे। हमें साहित्य को गुलाम नहीं बनाना, दूसरे अनुशासनों का। जबकि एक लेखक में इतना विश्वास होना चाहिए कि साहित्य की अपनी स्वायत्त सत्ता है, उसी में उसकी गरिमा है।** बाकी डिसिप्लिन के लोग साहित्य का आदर तभी करेंगे जबकि साहित्य अपने पैरों पर और अपनी शर्तों पर अपने सत्य को संप्रेषित कर पायेगा। बाकी सत्य तो राजनेता भी कहते हैं; उन्हीं सत्यों को हम अगर अपने साहित्य का माध्यम बनायेंगे तो हम किस गरिमा या किस आत्म निर्भरता की बात करेंगे? इसीलिए समाज में साहित्यकार का शब्द तभी गरिमा रखता है जबकि उसे उस शब्द की स्वायत्तता और आत्मनिर्भता में गहरा विश्वास हो। इस चीज में गहरा विश्वास हो कि यह सत्य उसके अलावा, उसकी विधा के अलावा किसी भी माध्यम से पूरी सच्चाई और पूरी चमक के साथ कहीं भी संप्रेषित नहीं हो सकता। हमें अपने में और अपनी विधाओं में इस विश्वास को दुबारा से जागृत करना है। हमें राजनीति का कार्य कर्त्ता बनकर साहित्य में काम नहीं करना है। हमें साहित्य को गुलाम नहीं बनाना है—किसी सैद्धांतिक मतवाद का जिसका कि प्रचार कहीं ज्यादा बेहतर हो सकता है—पार्टियों के द्वारा।

आज जबकि हमारे जीवन पर राजनीति का इतना भयंकर प्रकोप फैलता जा रहा है, वहां साहित्यकार को यह संकल्प करना चाहिए—यह संकल्प नहीं कि वह राजनीति से दूर रहेगा—बल्कि **यह संकल्प कि साहित्य के माध्यम से जीवन के प्रति एक वैकल्पिक दर्शन स्थापित कर सकेगा।** मेरी बात का यह ग़लत आशय मत लगाइए कि साहित्यकार मीनार में बैठा हुआ अपना सृजनकर्म करता है। वह उतना ही गहरे में, मैदान में है, जितना कि कोई और व्यक्ति। लेकिन उसकी ज़मीन, उसका आकाश, उसकी मिट्टी जिन शब्दों और जिस भाषा से बनती है वह अन्य सब कर्मों से, कर्म क्षेत्रों से अलग है। तभी वह सृजनात्मक रूप से

राजनीति में, मनुष्य के व्यवहार में, मोरेलिटी में, नैतिकता में सफल और सार्थक रूप से हस्तक्षेप कर सकेगी। इसी हस्तक्षेप के कारण **टालस्टाय** से ज़ार कांपते थे। यह नहीं कि टालस्टाय राजनीतिक मुहावरों या झण्डों को लेकर चलते थे। बल्कि उनके सत्य की खनक से ज़ार की आत्मा कांपती थी। यही शब्द का जादू है कि सोवियत सत्ता को **सोल्जेनित्सिन** को बाहर निकालना पड़ा। यह शब्द की सत्ता है—उसकी ताकत है—जिससे कि हिटलर को बाध्य होना पड़ा और अनेक चित्रकारों और साहित्यकारों को जेल में बंद करना पड़ा। यह शक्ति जब तक हम अपने शब्द में नहीं लाएंगे, तब तक राजनीति का अनुचर बनकर हम किसी प्रकार का कोई सार्थक हस्तक्षेप नहीं कर सकेंगे। इससे बेहतर है कि हम राजनीति में चले जाएं।

साहित्यकारों के क्षेत्र में होकर सामाजिक प्रक्रिया में हस्तक्षेप करने के लिए यह आवश्यक है कि हम साहित्य के स्वायत्त कर्म में विश्वास कायम कर सकें। जिस विश्वास को लाने के लिए हमें अपने लेखन में दिखावटीपन, आडंबर, झूठे फैशन न कर, इस सब की तिलांजलि देनी होगी। धीरे-धीरे साहित्यकार तभी बड़ा होता रहता है, जितना वह छोड़ता जाता है। **साहित्यकार इस मायने में एक गहरा संन्यासी होता है। जिस तरह से जीवन के सब झूठे आवरणों को उतारकर सच्ची आत्मा बाहर निकलती है, वैसे ही साहित्य के शब्दों की सच्चाई तभी उद्भाषित होती है, जबकि हम नकली आवरणों से छुटकारा पाते हैं।** मुझे याद है कभी किसी एक यूरोपीय साहित्यकार से पूछा गया था कि आपके गद्य में इतना जादू कैसे है? इतनी सच्चाई कैसे है? तो उन्होंने कहा था कि—"मैंने गद्य की गरीबी को पहचाना है।" गरीबी से उनका मतलब था कि जो चीज़ हम एक पैराग्राफ में कह सकें उसके लिए एक चैपटर लिखने की जरूरत नहीं है। और अगर उसी पैराग्राफ को एक वाक्य में कह सकें या एक वाक्य का आशय हम एक शब्द में कह सकें, तो यह धीरे-धीरे गरीबी इस अर्थ में। जिस तरह गांधीजी ने आखिर में लाठी और लंगोटी को अपना संरक्षण बनाया था, एक भारतीय साहित्यकार को आज ज़रूरी बात है कि उसे लाठी और लंगोटी के साहित्य की तरह अपने को सात्विक, न्यूनतमता की तरफ लाना चाहिए। लंगोटी अपने संरक्षण के लिए और लाठी—आलोचक के लिए नहीं—अपने को सुरक्षित रखने के लिए। सुरक्षित इसलिए क्योंकि ये जो ईश्वर का वरदान है, गिफ्ट है—लेखन का, रचना का, सृजनात्मकता का, इसे हम बहुत जल्दी नष्ट कर देते हैं। बीस वर्ष, पच्चीस वर्ष, तीस वर्ष तक लिखते हैं और बाद में साहित्य हमारा एक इन्वेस्टमेंट बन जाता है।

हमारे अनेक ऐसे साहित्यकार हैं जिन्होंने बीस वर्षों पहले शायद बहुत अच्छा लिखा हो। अब उनकी ख्याति सिर्फ बैंक में इन्वेस्टमेंट की तरह हो गई। ये एक बड़ी हॉरर की बात है। बहुत भय की बात है। जब मैं वैसा भविष्य अपने बारे में सोचता हूं तो मुझे बहुत डर लगता है। **लेखक का मतलब है एक निरंतर सतत संघर्ष, अपने को छोड़ते रहने की और अपने सत्य को दोबारा से पुनर्जीवित करने की प्रक्रिया। अपने को भी पुनर्परिभाषित करने का संघर्ष।** वर्ना फिर हम लेखक नहीं रहते, हम ख्याति सम्पन्न मनुष्य बन जाते हैं, जिनके लिए लेखन एक कैरियर हो जाता है। लिखना कैरियर नहीं है। वो पूरी एक जीवन की संपूर्ण द्योतल प्रणाली है। जो अंत तक चलनी चाहिए। मैं समझता हूं कि हमारे वरिष्ठ लेखक जब तक युवा लेखकों के सामने इस तरह की अपने व्यक्तिगत जीवन की मिसाल प्रस्तुत नहीं करते रहेंगे, तब तक वे साहित्य व समाज की बड़ी-बड़ी बातें बेशक कर लें, युवा लेखक के मन में न तो उनके साहित्य के प्रति, न उनके व्यक्तित्व के प्रति कोई आदर बन सकता है।

शिमला में 'शिखर' रचना शिविर के उद्घाटनावसर पर दिया गया भाषण।

वीरेन्द्र कुमार जैन : अतिक्रांति का रचनाकार

☐ प्रभाकर श्रोत्रिय

प्रज्ञा एक अग्नि है जो भीतर जलती है तो बाहर प्रकाश फैलता है। जो लेखक भीतर नहीं दहता, वह किसी बड़े सत्य का साक्षात्कार नहीं कर सकता। वीरेन्द्र कुमार जैन आप्राण जलता हुआ कवि है—जगत परिताप की भट्टी में दहदहाता हुआ और यथार्थ दुनिया की चूल पर नंगे पैर चलता हुआ। किसी वक़्त उसने कहा था "आग्नेय शूली पर मेरा शयन बिछा हुआ है।" इससे वीरेन्द्र की कमनीय देह भले ही लगातार छीजती जा रही हो, लेकिन आत्मा दिगंतों की होड़ करती हुई अनवरत उदग्र और तेजोद्‌भसित ही हुई है।

वीरेन्द्र की आत्मा मूलत रागमयी, कमनीय और सरल है। अपनी पहली कविता ही उसने अधरात चांदनी में लिखी थी—एक पक्षी के करुण क्रंदन से विकल, बेक़ाबू होकर। तब उसमें वाल्मीकि को जानने की तमीज भी नहीं आई थी। उसके भीतर कविता की यह जन्म-कथा किस मूलभूत संवेदनों से उसे जोड़ती है, इसका भाष्य करने की ज़रूरत नहीं है। लेकिन यह कहानी यहीं खत्म नहीं हो जाती। क्योंकि इस कोमल कवि-पंछी को अपने जीवन-भर ऐसी जाने कितनी यातनाओं से गुजरना पड़ा—उपेक्षा, अपमान, पराजय, कुत्सा और वर्णनातीत यातनाओं से ! इस भीड़भरी दुनिया में एक अजीब-सा अकेलापन महसूस हुआ। आध्यात्मिक अवबोधन का शायद यही प्रस्थान था। अगर यह न हुआ होता तो वीरेन्द्र भी कुंठा की अंधेरी खोहों में कहीं भटकते होते। वीरेन्द्र कुमार ने अगर अपने साथ कोई घटना घटाई तो वह यह थी कि उन्होंने दर्शन को दुनिया से पराङ्मुख होने और आत्मलीन होने का माध्यम ही नहीं बनाया, वे लगातार धरित्री और उसकी संतानों के लिए बेकल रहे। "यातना का सूर्य पुरुष" संग्रह में एक कविता है—'मेरी आत्मा का प्रथम जन्म घर,' उसमें कहा गया है कि मयूरों की झील, खरगोश की सुकोमल शैया, हिरनी की आंखें, मैना के गीत—यहीं कहीं मेरी आत्मा का जन्म घर था। फिर इस कोमल आत्मा को लगा कि यात्रा की इन वीरानियों में अब तो शून्य के रेगिस्तान हैं। लेकिन कविता का अन्त यों होता है—

> **और लो, दूर सिंहघाटियों की/पातालगामी तमस खाइयों में/**
> **किसकी मोह कातर आवाज/मुझको पुकारती है/**
> **आवाज जो एकदम अपनी-सी लगती है।**

देखता क्या हूं कि/सामने की शेषनाग मणि की/दहलीज पर/तुम खड़ी थी/ ओ मेरी अमृता धरित्री'''और तुम्हारी मुस्कान से झर रही थी हंसनियों-सी/आगामी काल की अतिमानसी सृष्टियां।

लेकिन इन दो छोरों को मिलाने वाली रेखाएं सरल नहीं, वक्र और संकुल (कांप्लेक्स) हैं, और इन्हीं में वीरेन्द्र कुमार जैन का गहरा रचना रहस्य है। आत्म और जगत यातना के अनेक दुर्दान्त विभ्राटों के मुंह यहीं खुलते हैं। एक संवेदित कवि के अन्वेषण और विद्रोह की प्रयोगशाला और कार्यस्थली यही है। क्योंकि वीरेन्द्र कुमार अकेले होकर भी कूटस्थ नहीं हुए। उन्होंने जानना चाहा कि संसार में इतना दुःख, संत्रास और विषमताएं क्यों हैं? आदमी आदमी से इतना शंकित और भयभीय क्यों है? क्यों लोगों के "चुम्बनों से, खून से नहाई आदिम शूलियों की गंध आती है?" गौतम बुद्ध से दो हजार पांच सौ बरस बाद फिर से वे ही सवाल इस कवि के मन को बेचैन कर रहे थे, आंधियां उठा रहे थे। परिणामस्वरूप उसने भौतिक और आध्यात्मिक दर्शनों को खंगालना शुरू किया, उसने तमाम चिंतकों, पैगम्बरों, अवतारों, भगवानों को ललकारा कि कहीं उनके पास समाधान है संसार की यातनाओं का? उसे लगा कि हर कोई अपूर्ण है। कोई भी दर्शन अकेला, कोई भी अकेला अवतार या विचारक उसकी सर्वग्रासी जिज्ञासा का आश्वस्तकारी उत्तर नहीं दे पा रहा है। वीरेन्द्र के ही शब्दों में उनके सर्जक का दुर्निवार आत्मविश्वास और आत्माभिमान ठीक से कहा जा सकता है:

> "मैं बजिद रहा और आज भी हूं कि कृष्ण, महावीर,
> क्राइस्ट, श्री अरविन्द, मेरे लिए न हो सके या जो ये सब
> मुझे न दे सके, वह मुझे स्वयं हो जाना पड़ेगा। वह मेरी
> आत्मा की सर्वभेदिनी वासना और वेदना के जोर से
> हासिल करना होगा। कृष्ण और महावीर जब चुप दिखे,
> तो उन्हें उठाकर मैंने अपनी ही शक्ल में ढाल लिया या
> अपने को, अपनी वासना और वेदना को—उनकी शक्ल में
> मूर्त कर लिया। मेरे अनुत्तर योगी महावीर मेरी संयुक्त
> चेतना की इसी पार्थिव द्राभा में से मेरी रचना में आविर्भूत
> हुए हैं।" (संवाद में वीरेन्द्र कुमार का आत्म कथ्य)

जाहिर है कि वीरेन्द्र कुमार मौजूदा वक़्त के लिए मुकम्मिल, आश्वस्तकारी पार्थिव दर्शन की खोज में रहे हैं। वे विभिन्न भौतिक और आध्यात्मिक दर्शनों के समन्वय से एक नवीन दर्शन की रचना करना ही नहीं, बल्कि अपने सृजनात्मक संवेदन के भीतर से कोई राह पाना चाहते रहे। उनके साहित्य में प्रसरित विचार और दर्शन की यह विशेषता है। इस दर्शन का आधार तर्क न होकर विज़न है जो उनके काव्य-संग्रहों में क्रमशः परिकल्पना, यथार्थ से टकराहट, खोज की यातना और अपनी अस्मिता की तलाश में प्रतिफलित हुआ है।

वीरेन्द्र के कवि का जन्मकाल नई कविता-युग था, जो किसी हद तक अपनी अन्वेषण-परक यथार्थ चेतना के कारण गत युग से अलग खड़ा था। आरम्भ में तो वीरेन्द्र पर उस यथार्थ-वाद का प्रभाव भी पड़ा जो मार्क्सवाद के ज़रिये आया था। उन्होंने मार्क्स के व्यावहारिक जीवन-दर्शन का महत्व स्वीकार करते हुए उसे अपने प्रथम काव्य संग्रह की भूमिका में "आदर्श विश्व-कर्मा" कहा। यही वह काल था जब उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि मनुष्य-मनुष्य के बीच

अन्तराल का कारण और शोषण का केन्द्र 'स्वर्ण-मारीच' है। उन्होंने अपनी एक कविता में कहा कि जब तक मानव-मानव के बीच का नाता 'अर्थ' से बदल कर 'आत्मा' नहीं हो जाता; जब तक धन, धान्य, धाम सबके लिए सुलभ नहीं हो जाता, तब तक तमाम आध्यात्मिक पुरुषों के उपदेशों के बावजूद चेतन पर अचेतन की विजय होती रहेगी। उनका विचार है कि इसी सुवर्ण के मारीच की वजह से मनुष्य का शोषण होता है और उसकी उन्मुक्त कलाएं बिकती हैं। ग़ौर कीजिए :

ओ रे ओ जन्मजात बुज़ुर्गों, बर्ज़ुवाओ/तुम जो गिनती के गर्भ से जन्मे हो।
तुम जो बंधे बंधाए फुटपाथ के जाये हो/तुम, जिनका खून और वीर्य भी
पैसों की कोमत में कूता हुआ है /तुम्हारे निजाम में/मेरी देश-काल-
वाहिनी उन्मुक्त कविता/वेतन से बंधे हुए वक्त के कोठों पर बिकती है/
तुम्हारी ये पार्लियामेंट, सचिवालय और एम्बेसियां/मेरी चिर अभाव पीड़िता,
कुंआरी चेतना को, अपनी ऐशगाहों में, ऊंची कीमतोंवाले ऐश्वर्यशाली
पलंग पर/अपने फर्मानों की रक्क़ासा बनाकर रखना चाहते हैं।

वीरेन्द्र के इस विचार में कभी फर्क नहीं आया। उनकी परवर्ती कविताओं में भी सुवर्ण मारीच की दैत्यता और मानवीय विषमता के प्रति आक्रोश व्यक्त होता रहा। लेकिन संपूर्ण भौतिक संवेदनाओं के बावजूद वे पदार्थ में जड़ीभूत हो जाने को तैयार न हुए। वीरेन्द्र की मूलतः आस्तिक आत्मा ने जब अध्यात्म-दर्शनों की ओर रुख किया तो वे भी उसे अंशतः ही प्रभावित कर सके। वे दर्शनों के वैराग्य को कभी सह नहीं सके। गौतम बुद्ध पर अपनी लम्बी कविता में जहां उन्होंने उनकी महाकरुणा के प्रति श्रद्धा प्रकट की, वहीं उनके संसार-त्याग और निर्वाण, समाधि वगैरह से असहमत भी हुए :

मुझे नहीं चाहिए कूटस्थ/निश्चल, निर्वाण की समता और
शांति/मैं तो इस धड़कते, कसकते, मचलते जीवन की धरती पर/युद्धों,
विनाशों, विषमताओं के दुष्चक्र तोड़कर/मानव-मानव के बीच/जीवंत
शांति, समता और सम्वादिता लाना चाहता हूं।

ऐसी विराट चेतना को सिद्धालयों के बंद कपाटों का अमृत नहीं चाहिए। चाहिए उसे वह अमृत जो "नित नूतन निर्माण की मशालें लेकर/नाश की अशिधारा पर नंगे पैर चलता है।" जो वीरेन्द्र किसी वक़्त संसार-सत्ता को 'अंतहीन छलना का जुलूस' कहते थे, उन्होंने यहां एक तरह से अपने को ही अतिक्रमित किया है।

यह ठीक है कि दर्शनों से टकराते हुए और खुद अपना द्वन्द्व झेलते हुए उन्होंने जिस अध्यात्म की सृष्टि की है वह प्रक्रिया में द्वंद्वमूलक है, जो द्वंद्वात्मक जगत से होकर जाती है। उनका कहना है कि उन्होंने 'द्वंद्वात्मकता' को 'जीवन की तमाम जटिलताओं सहित' स्वीकार किया है। **दी हुई दुनिया को पाई जा सकने वाली या परिकल्पित दुनिया में तब्दील कर पाना एक प्रातिभ रचनाकार के लिए ही संभव होता है, गो कि यह दुनिया खुद उसे शायद ही मिलती हो।** क्योंकि वीरेन्द्र ने चाहा था समुद्र में घर, मगर उसे उसके साथ मिला एक कॉस्मोपोलिटन उन्निद्र महाशहर! सात बच्चों के बावजूद छोटा-सा घर जिसके एक कमरे से बहसें, हा-हू हो रहा है और दूसरे में वीरेन्द्र अनगिनत रातों-दिनों वह रचते रहे, जिसका शब्द-शब्द निपट शांति चाहता है। लगता है, वीरेन्द्र बड़ी नाजुक और बड़ी सख़्त चीज़ है!

कलात्मक दृष्टि से वीरेन्द्र का काव्य-संसार जहां अत्यन्त समर्थ और ऊर्जस्वित है वहीं वह पाठक को उद्विग्न करता, कचोटता और अन्ततः अगाध संभरता देता है। इस द्वंद्वात्मकता से भरपूर उनकी महाकाव्यात्मक कविताएं नये हिन्दी काव्य में **मुक्तिबोध के दूसरे सिरे पर खड़ी कविताओं में सबसे सशक्त हैं।** 'शून्य पुरुष और वस्तुएं' काव्य संग्रह को 'दिनकर' ने उसके अन्तस्तत्व के कारण हिन्दी का 'परम श्रेष्ठ काव्य ग्रंथ' कहा था। फिर भी वीरेन्द्र पहचान के किनारे पर ही क्यों रहे? इसकी वजह सिर्फ साहित्यिक मुग़लिया का व्यवहार ही नहीं, बल्कि वे खुद और उनका काव्य भी है। जैसा मैंने कहा है कि उनका जन्म-काल (किसी हद तक) यथार्थ की तीखी चेतना वाला प्रयोग-युग था। और स्वयं लाख संतप्त होते हुए भी, द्वंद्व चेतना से सम्पन्न होते हुए भी, उनका काव्य-मानस प्रधानतः और प्रबलतः आध्यात्मिक जिजीविषा के केन्द्र में रहा है। वैसे मैं स्वयं भी कविता को एक जागतिक घटना मानता हूं और अध्यात्म और रहस्य के क्षेत्र में दूर तक उसके घुस जाने के खिलाफ हूं। इस पर वीरेन्द्र भाई से मेरी लंबी बहस सर्वविदित है। बहरहाल, **सच तो यह है कि जब तक कला में 'वस्तु' और 'समय' के केन्द्र परस्पर नहीं टकराते, तब तक वह जरूरी स्पार्क नहीं होता, जिसे प्रतिभा अपने समय में दीप्तिमंत होती है।** रोमेंटिक-क्लासिकी जैसी अंतर्रचना ने वीरेन्द्र की पहचान को अतिक्रमित किया है और सर्वांगत: अतिक्रमण की यह कृति एक अपरिचित धारा की तरह आधुनिक चेतना के किसी अज्ञातद्वीप में बहती रही — और अगर उसकी थोड़ी बहुत कलकल सुनाई भी पड़ी तो उसके भीतर निहित प्रगाढ़ वासना और वेदना की वजह से ही। क्योंकि भावों और रसों के भी ये आदिम सीमांत हैं—श्रृंगार और करुण। इनमें कोई शक नहीं कि वीरेन्द्र कुमार ने इन्हें महावासना और महावेदना में तब्दील किया है।

वीरेन्द्र कुमार जैन एक श्रेष्ठ कथाकार भी हैं। यों उन्होंने कहानी और उपन्यास के रूप में भी काव्य और महाकाव्य ही लिखे हैं। उनकी मूल संवेदना कवि की ही है। खैर, उनकी प्रारंभिक कहानी से ही प्रेमचंद चमत्कृत हो उठे थे। दृष्टा ने जान लिया था कि यह उद्गम महानद का है। पहला उपन्यास 'मुक्तिदूत' जो वीरेन्द्र कुमार ने 28 वर्ष की उम्र में लिखा था, आज भी हिन्दी के अविस्मरणीय उपन्यासों में है। यों चाहे 'एक और नीलांजना' की ललित कथाएं हों या 'मुक्तिदूत' अथवा 'अनुत्तर योगी : महावीर' सभी रचनाओं के स्रोत जैन आगम और जैन कथाएं हैं, लेकिन जैसा कि स्वयं वीरेन्द्र ने लिखा है कि ये सब उनकी 'चेतना की द्वाभा में से आविर्भूत हुए हैं' इसलिए पुनराविष्कृत हैं। इनमें दुरंत खोजें हैं, व्यापक समावेशिता और विपुल सर्जनात्मक सौंदर्य है। 'मुक्तिदूत' में बहुस्तरीय रचना-प्रक्रिया से उपलब्ध रूपक हैं। 'कामायनी' के बाद इतने कथा-स्तर और ऐसा संगुंफित तनाव औपन्यासिक रचना 'मुक्तिदूत' में ही मिला। पवनंजय और अंजना की कथा जहां एक ओर पुरुष के 'चरम अभिमान और नारी के चरम समर्पण' की गाथा है वहीं वह प्रकृति और पुरुष भाव और वस्तु, नकार और स्वीकार का निविड़ द्वंद्व झेलती है; और उसका परिणमन किसी दिव्य मुक्ति में नहीं, नारी के प्रेम की पराकाष्ठा में ही होता है और सार्थकता पुत्र की प्राप्ति में ही। क्योंकि स्त्री यहीं पुरुषाभिमान को ज़र्रे-ज़र्रे बिखेरती नई यात्राओं पर चल पड़ती है। भारतीय नारी की चरम उत्सर्गगामी साधना जिसका मनोभौतिक रूपायन नरेश मेहता की 'सरो' करती है या आधुनिक कटु-कठोर यथार्थ के धरातल पर जैनेन्द्र की 'मृणाल'। उसे अंजना' स्वतंत्रता की चेतना, आदर्श, सम्पूर्ण सरलता और संपूर्ण राग और हां, उदात्त आध्यात्मिक गरिमा के साथ अपूर्व स्तरों में रूपायित

करती है। पुरुष के अहं शिखरों तक स्त्री को नहीं ले गए हैं वीरेन्द्र जी, बल्कि पुरुष को ही नारी की ज़मीन पर लाकर उन्होंने कहा है कि देखो उत्सर्ग क्या होता है? यह कृति मानवीय अनुभवों, मूल्यों और उदात्त संकल्पों के बीच एक रम्य संतुलन या विलक्षण तनाव रचती है और पूरे सर्जनात्मक फोर्स के साथ!

'अनुत्तर योगी' में भी एक विचित्र कंट्रास्ट है। वीरेन्द्र स्वयं भी एक प्रज्ञामान, गतिशील संवेदनगामी पुरुष हैं। इसलिए वे सत्य के एक छोर से इन्कार करते हैं और इसीलिए अनेकांतता उन्हें स्वभावतः रास आती है। क्या यह विलक्षण नहीं कि वे वैदिक, औपनिषदिक, शैव, शाक्त वैष्णवी चेतना के करीब हैं, महावासना की मांसल रूमानियत के आशिक हैं, भौतिक दर्शनों की राह से भी गुज़रे हैं—और रचने बैठे हैं एक परम विरागी, घोर संयमशील तपस्वी और निहंग दिगंबरी तीर्थंकर को—और वह उनके यहां दुनिया के बीच विचरता है, गरीबों, सर्वहाराओं में उसे परम सत्ता की लौ जलती दिखती है, उसके भीतर चरम आकर्षण है, वह मूलगंध कुटी में ही विहार नहीं करता, बल्कि आम्रपाली के अनंग-कक्ष में भी बेधड़क घुस जाता है। महावीर को स्रष्टा ने इतने रंगों, रूपों, रेखाओं में उत्कीर्णित किया है, इतनी विविध-विरोधी स्थितियों में उतारा है जो धर्म-सत्ता के भीतर बैठी उनकी अवधारणाओं और एकांतिकताओं को चुनौती देता है। आगमों, धर्मों और इतिहासों में बैठे चरित्रों के साथ ऐसी गुस्ताख़ी कोई सर्वतंत्र स्वतंत्र प्रातिभ अध्वर्यु ही कर सकता है। विराग पर्यवसायी व्यक्तित्व को रागपर्यवसायी बनाकर उसे विराग सहित ऊपर उठा दे सकना कोई खेल-तमाशा नहीं है। यह वीरेन्द्र कुमार की पश्यंती वाक् से ही संभव हुआ है। क्योंकि आखिरकार यह चरित्र दर्शनों, तर्कों और बुद्धि के व्यायामों में से नहीं, लेखक की वेदना और वासना के भीतर से रूपायित हुआ है।

वीरेन्द्र कुमार की रचना-भाषा पर बात न करना अधूरी बात होगी। क्योंकि उनके यहां विचारों, संवेदनों, सवालों, स्थितियों आदि का ही आर्केस्ट्रा नहीं बजता, भाषा का आर्केस्ट्रा भी बहुत गूंज भरा है। कम से कम हिन्दी के अध्यात्मोन्मुख काव्य में इससे पहले इतने लंबकूर्च चलाती विस्फोटक भाषा नहीं देखी गई। यों जैनेन्द्र ने प्रथम उपन्यास 'मुक्तिदूत' पढ़कर ही यह निष्कर्ष निकाल लिया था कि 'प्रसाद के बाद ऐसी भाषा केवल वीरेन्द्र में ही मिलती है'। (लेकिन शायद उनका आशय भाषा के लालित्य से होगा)। अतिक्रमण के सर्वग्रासी प्रवाह से भाषा बचती भी कैसे? ऐसी मथी हुई, ऐसी संकुल, भाषाओं की सामासिकता से रची गई द्वंद्वात्मक भाषा और दूसरी तरफ भव्य और उदात्तता में खुली भाषा एक दुर्लभता ही है। शब्द का स्रष्टा कितना बड़ा होता है, इसे मर्मज्ञ खूब समझते हैं। मैं इसमें मात्र शब्दार्थ से परे लावण्य भर नहीं देखता बल्कि मुझे लगता है कि यह लावण्य यौवनोच्छला रतिअंगना का, आह्लादित वेदना की सामासिकता में आविष्ट सौंदर्य है, क्योंकि उसे सर्जक पुरुष का, प्रगाढ़-तन्मय सामीप्य मिला है।

वीरेन्द्र कुमार जैन की रचना-यात्रा एक दारुण तपस्या है। एक घनघोर आंतरिक विप्लव का परिणाम है। वह समग्रतः अतिक्रांति का रचनाकार है, जो भौतिक और आध्यात्मिक दोनों फ्रंटियर्स को लांघने की उत्कटता में कई बार देश-काल का अतिक्रमण कर गया है। वृंदावन और कुरुक्षेत्र को एक साथ जी सकना—और पूरे होशोहवास में जी सकना एक बड़ा दुःस्वप्न है जिसे वीरेन्द्र कुमार का रचनाकार और भोक्ता देखता ही चला जा रहा है।

[८२/१०१, तुलसी नगर, भोपाल-४६२००५]

कहानी

जंगल में फंसी औरत

☐ मनु निश्चित

न चाहकर भी हेमचंद्र के शब्द रह-रहकर जीवित हो बैठते। तब रमा को लगता कि जैसे किसी ने उसके गले में मछलीमार कांटा फंसा दिया हो। फिर समूची देह पर जंगली नाशपाती के तीखे कांटों की चुभन गतिशील होने लगती। यद्यपि दुश्मनी की क्रूरता के साथ वह उन शब्दों को चबाने की कोशिश भी करती ही रही, लेकिन सफल न हो सकी। कारण कि कोशिश के साथ ही कच्चे घुइयों का तिलमिला स्वाद उसकी जुबान और तालू पर अतिक्रमण कर बैठता। उस समय पीड़ा का शंखीला शीर्ष उसके पूरे अस्तित्व को उठाकर, घाटी में बहती निर्मम नदी में फेंकने के लिए आतुर हो उठता। ऐसे में अतियों के खिलाफ उगते साहस पर घाटी भर पाला, स्वाभाविक रूप में केंचुली की तरह जम जाता।

"कोशिश करूंगी।" इतना कहना ही पड़ा। टाल न सकी रमा। साफ-साफ कहने के लिए भी तो साहस चाहिए। और मौके का साहस जुटाना रमा के लिए बरसात में गहराती नदी को पार करने की तरह ही रहा। वह उन्मादी नदी, जिसके लिए भीमकाय शिलाखंडों का महत्व भी गेंद से ज्यादा न रहा। झुरझुरा उठती वह। लगता कि नदी बहुत करीब से बह रही है, जिसमें कभी भी बाढ़ आ सकती है। एक बार फिर, ऐसा संकेत उसे हेमचंद्र की बातों से मिला। जब उसने कहा था, "दीदी! लड़की हो तो बस, पन्द्रह-सोलह की!"

सड़ते हुए, कच्चे गोश्त की गंध से तब रमा का सिर चकराने लगा था। संयत रहने की विवशता बरकरार थी। हेमचंद्र की उन आंखों को वह भूल न पाई, जिनमें एक आशावान हिंसक चमक छिपी हुई थी। दोस्ती के लबादे के नीचे तब उसने एक मांसाहारी जानवर को देखा था, एक विक्षिप्त अधेड़ होते नर भालू की शक्ल में। आखिर नर्मदा प्रसाद का दोस्त उससे भिन्न होता भी तो कैसे?

रमा का चचेरा भाई नर्मदा, जो लंबे समय तक बिरादरी भर में दमखम का जीवित साक्ष्य ही नहीं अपितु आदर्श माना जाता रहा। वह आदर्श, जिसे सही मानकर दो साल पहले रमा ने ससुराल के जंगल को छोड़ा था। तब पहली बार रमा का साहस पूरी तड़प के साथ जागा था।...अब वही साहस नर्मदा के उगाए ऊल-जुलूल जंगल की खरोंचमार घेराधारी में उलझकर बिखर गया।...मुक्ति के नाम पर पिंजरे से पिंजरे तक का सफर ही तय कर सकी

वह। आसमान से गिरकर पेड़ पर भी अटक जाती तो भी जमीन तक पहुंचने की संभावना जिंदा रहती, पर वह तो एक बीहड़ से निकलकर दूसरे में फंसकर रह गई। अबला का मारक बोध खून चूसने की गरज से, जोंक की तरह, अस्तित्व पर चिपककर ही रह गया।

रमा बहुत जल्द जान गई थी कि नर्मदा के लिए उसका महत्व अंडा देने वाली मुर्गी से ज्यादा नहीं है। फिर भी वह नर्मदा के लिए ना न कर पाती। बच्चों का पेट काटकर भी। वह जानती थी कि नर्मदा से बिगाड़ने का अर्थ मायके से बिगाड़ लेना ही निकलेगा। फिर मायके से बिगाड़कर, वह कितने दिन सिर उठाकर जी सकेगी? बूढ़े मां-बाप की सुनेगा कौन? ·· और फिर लांछनों की सूची की कल्पना ही उसे भीतर ही भीतर रौंद डालती। ऐसे में पति की मृत्यु के बाद के साल उसके सामने सजीव हो उठते तो उठती टीसें भी घुटकर रह जातीं। ···इधर ससुराल के नए-नए लांछन और मायके वालों की सेंधमार आत्मीयता ही जीवन-क्रम बनकर रह गया। पीड़ा और तनाव का एक अटूट सिलसिला मुकम्मल-सा हो गया। ·· फिर शुरू हुए बेहोशी के दौरे। हालत बिगड़ी तो देहरादून होते हुए, दिल्ली तक की यात्रा करनी पड़ी।···आयुर्विज्ञान संस्थान में दिखाने के बाद रमा को हेमचंद्र के भरोसे छोड़कर, नर्मदा श्रीनगर लौट आया था, देहरादून-दिल्ली घूम-घामकर···

"मां जी!" नम्रता स्कूल से लौटी थी। वह तेजी से कपड़े बदलने लगी। उड़ती नजर में ही रमा को लगा कि बेटी तेजी से सयानी हो रही है। ऐसा लगते ही हेम का चेहरा फर्श तोड़ता हुआ मां-बेटी के बीच स्थिर हो गया! रमा को लगा कि उसके होंठ हिले, 'ऐसी ही चाहिए!' (नर्म-गर्म गोश्त!!)

रमा को आंखें बंद करनी पड़ीं। फिर-फिर वही बातें। वही चेहरे। वही भाइयों का जंगल—सुप्रिय, रघु, सच्चू से लेकर हेम तक। शीर्ष पर रहता नर्मदा, सरदार की तरह!

"उठो! दवा का समय हो गया।" नम्रता ने मां को याद दिलाया। फिर वह मेज पर रखी दवाओं को समझने में लग गई।

दवा खिलाकर, रमा रसोई में चली गई। एक नई पत्रिका रमा को थमाकर, न लेटने की हिदायत भी देती गई। पत्रिका हाथ में थमी ही रह गई। खिड़की से दिखती अलकनंदा की लहरों में उसकी निगाहें डूबने लगीं। संध्या का सूरज अलकनंदा की लहरों पर स्वर्ण-रजत कलाएं बनाने में व्यस्त था। उनके बनने और टूटने से अलकनंदा की गतिशीलता का पता चल रहा था, पर रमा के भीतर पीड़-कला टूटती है तो तनाव की कलाएं उभरती रहीं और बिना किसी गतिशीलता के बचे-खुचे जीवित वर्णपट भी टूट-टूटकर बिखरने लगते।

दिल्ली से लौटे अभी तीन ही दिन हुए। डाक्टर ने कुछ दिन और रुकने के लिए कहा था, लेकिन वह रुक न सकी। बीसवें दिन ही गाड़ी में जा बैठी। कारण कि वह जान गई थी कि उसे रोग नहीं, शोक और भय है। दवा नहीं, दुआ चाहिए। डाक्टर नहीं, विश्वास चाहिए। अस्पताल नहीं, सुरक्षा चाहिए। कहां मिलेगा यह सब आदमियों के इस जंगल में? जिसे सिर्फ शिकार के लिए ही खुला छोड़ रखा है। रमा को लगता कि जंगल की नियति यही है कि हिंसक जानवर से बचो तो शिकारी का मुकाबला करो। सच है कि कमजोर की इज्जत, जिंदगी और मौत हथेली पर ही होती है।

छुट्टी के सात दिन रह गए। अगले माह से दफ्तर जाना ही पड़ेगा। कल गुप्ता आया था तो वह भी यही कह रहा था कि अब और छुट्टी ली तो आधा वेतन ही मिलेगा। फिर कैसे

चलेगा ?···जाने कैसे खबर मिल गई गुप्ता को ! नर्मदा अनुपस्थित। फिर किसने बताया ? गंध सूंघता है मां का खसम।—एक विकृति तैर गई रमा के चेहरे पर।···तबियत का हाल पूछते हुए, खाट के पैताने के पास पड़ी कुर्सी पर बैठ गया था गुप्ता। खाट पर बैठने का साहस वह चाहकर भी कभी न जुटा पाया। रमा के निर्विकार चेहरे की जमी हुई आंखें उसके सारे संजोए उत्साह को ठंडा कर बैठतीं। फिर भी वह रमा के सामने अतिरिक्त गंभीरता का लबादा कुशलता से ओढ़े रखता। साथ ही अर्थपूर्ण आत्मीयता का भाव पूरे दमखम के साथ बनाए रखता। बाघ की सी चमकती आंखों में बगुले की मारक लगन भी पूरे धैर्य के साथ जिंदा रहती।···यों भी तमाम टूट-फूट के बाद भी रमा की छरहरी देह पर वक्त के खौफ के अफसोस-नाक पिल नहीं पड़ पाए। इकत्तीस हिमपातों के बाद भी उसके नाक-नक्श विवर्ण न हो पाए। नम्रता को देखकर एक बार में ही कोई यह नहीं मानता कि वह रमा की बेटी है। हालांकि बीहड़ों की यात्रा ने उसकी देह की गोलाइयों को हल्का अवश्य कर दिया था, लेकिन लगता ऐसा था कि वक्त ने उसे और ज्यादा सुघड़ता दे दी है।

अंतहीन एकाकीपन की न खत्म होने वाली पीड़ा रमा की संगिनी बन गई। एक ठंडी आग त्रियुगीनारायण की धूनी की तरह एक अटूट क्रम में सुलगती रहती। जब कभी भी उस आग से लपटें उठने लगतीं तो रमा के भीतर की मां आड़े आ जाती और वह एकाकी औरत ठंडी आग में जलने के लिए विवश हो जाती। मां का आदर्श औरत की जलन पर सदैव भारी रहा और मां कभी भी बच्चों के भविष्य के साथ खिलवाड़ नहीं कर सकती। यों भी पिता की अपेक्षा वह ज्यादा विश्वसनीय रही है।

आग से कई तरह का रिश्ता रहा रमा का। कभी वह चूल्हे की आग को ही आग समझती थी। फिर पन्द्रह साल में विवाह की अग्नि देखी, सोलवें और उन्नीसवें साल में मां बनने की अग्नि से साक्षात्कार किया और इक्कीसवें साल में वैधव्य की अग्नि को आत्मसात करना पड़ा। उसके बाद ससुराल की कोपाग्नि से परिचित हुई। फिर आत्म-निर्भर होने की कोशिशों में आरोपों की अग्नि को झेला। और अब तो यह एक क्रम बनकर रह गया। झुलसते जीवन के कुछ सच अवश्य स्थिर हो गए—नौकरी, बेकारी, कर्ज, रिसते रिश्ते, भाइयों और लांछनों की सूची ! सिर्फ, चिन्ता के विषय। ऐसे में चिन्ता के नाम पर चलने वाली गाड़ी, बेल-सी बढ़ती नम्रता की देह से सटकर खड़ी हो जाती। धारा बदलती और रमा की मुट्ठियां भिच जातीं।···शंकित हो उठती वह—जरूर नर्मदा ने हेम से नम्रता का जिक्र किया होगा। एक निर्णय पर पहुंचकर रमा बड़बड़ाई, "जिधर देखो, आदमखोर बाघ ही नजर आते हैं।"

"क्या बड़बड़ा रही है ?" नम्रता ने चाय का प्याला मेज पर रखते हुए पूछा।

"सपना था शायद ! बैठे-बैठे आंखें झपक गई थीं न !" बात पलटी रमा ने। नम्रता चुप ही रही। ऐसे मौकों पर काफी कुछ समझते हुए भी वह चुप रहना ही ठीक समझती। रमा ने चाय का घूंट लिया ही था कि सामने की खिड़की से फुटबॉल टकराई और लौटती में नम्रता के सर पर थाप देती हुई, मेज से टकराकर, खाट के नीचे घुस गई।···दरवाजे पर बारह वर्षीय शीतांशु मुस्करा रहा था।

"देखा दीदी ! कैसे होता है हेड ? मजाक थोड़े ही है फुटबॉल खेलना !" पास आकर बोला, "लाओ, मैं दबा दूं सिर।"

"चल हट ! मां जी को लग जाता तो ?"

"फिर बन गई दादी !" फिर मां के पास बैठते हुए बोला, "अच्छा कुछ खाने को दे दो। बहुत थक गया। पूरे पांच गोल किए हैं आज।"

"शैतान कहीं का !" शीतांशु की पीठ पर मीठी धौल देकर, नम्रता रसोई में चली गई और शीतांशु मां को फुटबॉल खेलने के तौर-तरीके बताने में व्यस्त हो गया।

रात के साढ़े ग्यारह बजने में एक घण्टे का समय बाकी था। रमा के दवा का समय। सो, सभी काम निबटाकर, नम्रता मां के पास रजाई में घुसकर बैठ गई।

"सो जा। दवा मैं ले लूंगी।" रमा ने टोका।

"सो जाऊँगी।" कहते हुए, नम्रता की भरपूर निगाह मां के चेहरे पर रेंग गई।

"कहां चली गई तेरी नींद ?"

नम्रता ने बात टाल दी। तय था कि वह रमा को सुलाकर ही सोएगी।...एकदम बदल गई थी हुड़दंगी लड़की। सहज ही में एक-एक दायित्व ओढ़ती चली गई वह। खासकर तब से, जब से श्रीधर ने आना-जाना ही बन्द कर दिया था। अब तो सुना है कि स्वयं ही उसने अपना तबादला करवा दिया।...श्रीधर की याद आते ही रमा की पूरी रीढ़ पर चौखम्बा की बर्फ जम जाती है। रमा की निगाहों में समूचे जंगल में एक इन्सान का नाम था श्रीधर। यों भी दुनिया की निगाह में वह अजीब-सा नौजवान था, जो इन्सानी फर्ज, हक-हकूक और रिश्तों के अलावा न कुछ जानता था और न जानना चाहता था। यही कारण था कि रमा की हर लड़ाई में वह सक्रिय रहा। उसकी सहज व बेबाक आत्मीयता न ससुराल वालों को अच्छी लगी और न मायके वालों को। अच्छा लगता था तो सिर्फ रमा को...नर्मदा भी अरसे तक श्रीधर के खिलाफ कुछ न बोला, लेकिन जब नर्मदा को लगा कि श्रीधर के रहते रमा का दोहन संभव नहीं तो एक दिन उसके भीतर का भाई असहज हो उठा। रमा के आत्मविश्वास की जड़ों को सनातन हथियारों से कुरेदते हुए।...और एक दिन श्रीधर बगल के मकान से अपना सामान समेटकर चला गया। रमा चाहकर भी न रोक पाई थी उसे, क्योंकि बिरादरी की नंगी तलवार सिर के ऊपर लटकी हुई थी—और अब यादें और बातें ही शेष रह गईं।...

"मां जी !" एक डरावनी घरघराहट के साथ, शीतांशु पास की खाट पर उठ बैठा। नम्रता तेजी से भाई के पास पहुंची और उसी के साथ रमा भी। शीतांशु ने बारी-बारी से दोनों को घूरा और मां से जा चिपटा, आतंक मिश्रित धौंकते शब्द निकले, "मारने की धमकी देता है !"

डाक्टर की तमाम चेतावनियों को निगलकर, रमा ने शीतांशु को अपनी गोद में लिटा लिया। सहलाते हुए पूछा उसने, "कौन था बेटे ?...बोल न ! क्या देखा ?"

"नर्मदा मामा !" शीतांशु बड़ी कठिनाई से बोल पाया।

सुनकर, रमा की निगाहें झुक गईं। नम्रता से आंखें मिलाने का साहस भी शेष न रहा। नम्रता, जो कभी भाई के पीले पड़े चेहरे पर उभरती पसीने की बूंदों को साफ करती तो कभी प्रश्नवाचक निगाहों से मां के चेहरे की टोह लेती।—और रमा ? जंगल में फंसी अकेली औरत ! जो बीहड़ों की दरारों में फंस-फंसकर मुक्ति की अर्थहीन लड़ाई लड़ने में लगी रही। जिस क्षण भी वह मुक्ति की राह पर फिर से चलने के लिए होती, उसी दम चैतन्य होकर नर्मदा रास्ता रोककर खड़ा हो जाता। उफ ! कैसे निबटे नर्मदा से ?...ठीक ही कहता था श्रीधर—"आदमी की समझ अभी भी कम है तुम्हें। दमक भर देखती हो। पेंदे तक पहुंचने की कोशिश

नहीं करती ।

तब मुस्कुरा देती थी रमा और अब स्मृति-दंश में बेचारगी के कफन के नीचे दुबकने के लिए विवश रहती। श्रीधर की बातें कितनी देर तक जिन्दा रह पातीं रमा के भीतर? बस, नर्मदा की गैरहाजिरी तक।—शब्द-शब्द देह-दिमाग के कण-कण को एक ताजगी से भर देते, लेकिन उस ताजगी को रमा संजोकर न रख पाई। रमा सोचती—ठीक ही कहता था वह, "खुश रहिए! बीमारी दी गई है, तुम्हें है नहीं।...और हालात यदि ऐसे ही रहे तो बच्चों का भविष्य भी दांव पर लग जाएगा।"

एक सहज सम्मोहन में रमा निरुत्तर हो जाती। सच्चाई को स्वीकार करने के बावजूद भी जंगल के कानून का खौफ उसके भीतर से न निकल पाया। हालांकि श्रीधर ने वहुत कोशिश की—जंगल कानून ज्यादा देर तक जारी नहीं रह सकता। जंगल भर का दर्द कब ढोओगी? कैसे ढोओगी? वहुत दर्द है तुम्हारे पास और जिम्मेदारी भी।"

"अरे! दो बज गए? मां, दवा पी लो।" स्थिर स्वर में बोली नम्रता। शीतांशु सहज होकर मां की गोद में सो रहा था। नम्रता ने उसे मां की गोद से खिसकाकर ठीक ढंग से सुला दिया। फिर चम्मच और दवा की शीशी थामकर मां के सामने खड़ी हो गई।

"रख दे, इसकी जरूरत अब नहीं रही।" बहुत दिनों बाद रमा के मुंह से एक संयत स्वर कमरे में बिखर सका। नम्रता के हाथ में दवा की शीशी और चम्मच लेकर, मेज पर रख दी। एक ममतामयी दृष्टि से उसने सिर से पैर तक नम्रता को देखा और अंक में भर लिया। बिना किसी आवेश के भीतर ही भीतर एक स्थिर वाक्य बना, 'ऐसी गलती नहीं करेगी वह।'

जब भी चेतना बीहड़ों के भयावह अंधेरे से उजाले की ओर बढ़ी, तब-तब सोच की ज़मीन स्वाभाविक रूप से उर्वर हो उठी। रमा को लगा कि जैसे जंगल के बीहड़ों की ओर एक जीवनदायिनी पगडण्डी बढ़ती चली आ रही है। निश्चय ही रमा के लिए। अब यदि नर्मदा भी आड़े आया तो वह उसे भी समझ लेगी। अब वह पहले मां है और फिर औरत। निश्चय ही मां के सामने बीहड़ जंगल, मरुस्थल, घाटी और पर्वत कोई मायने नहीं रखते।

दोनों बच्चों को अगल-बगल लेटाकर, रमा भी लेट गई। सालों बाद उसके चेहरे पर स्वाभाविक सहजता लौटती हुई लगने लगी। □

[४०, भण्डारी बाग II, देहरादून-२४८००१]
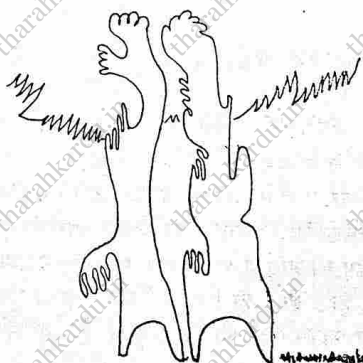
पतलियों और मुंह के बीच

☐ राजकुमार राकेश

चढ़तू भाईचारे में उसका भतीजा लगता है। साधुराम को अपनी प्रतिष्ठा का बहुत मान है। उसकी बात चढ़तू नहीं टालेगा। कतई नहीं ! आखिर वह गांव का मोहतबर आदमी है। उप-सरपंच है। मक्खू नेता का घनिष्ठ है...बिल्कुल खास...नेता का अंतरंग होना एक ऐसी योग्यता है जिसे नजरअंदाज़ करने की जुर्रत आज के युग में कौन कर सकता है। मक्खू नेता के स्वागत समारोह के लिए ही तो चंदा मांगा जा रहा है। गांव सड़क से जुड़ा...उसका उद्घाटन स्वयं में ऐतिहासिक घटना है...पूरे गांव का फायदा है ..फिर मांस-भात अकेले मक्खू साहब ही तो न खाएंगे . सब ग्रामवासी...चढ़तू भी खाएगा...चढ़तू के तीन लड़के भी खा लेंगे। पचास रुपये सर्वजन हिताय चंदा दे देना कौन बड़ा कारतूस फोड़ना है।

पर चढ़तू दो टूक था। उसने जब नहीं मानना होता है तो सगे बाप की भी नहीं मानता। साधुराम किस खेत की मूली...मक्खू बड़ा होगा अपने छप्पर पर। चढ़तू ने उससे क्या लिया और चढ़तू को उसने क्या दिया। तीन-तीन लौंडे उसकी कमाई पर तीर हो रहे हैं और वह रोज़ ही कमान बनता जा रहा है। लगवा दिया मक्खू ने एक को भी नौकरी। पांच साल से झींक रहा है चढ़तू उसके पीछे...! साधुराम बहुत मक्खू का लाड़ला बनता है...यह करवा देगा, वह करवा देगा। जिंदा ही चढ़तू को स्वर्ग में उतार देगा...चढ़तू को ! हा...हा...हा... अनपढ़ चढ़तू को !

"मक्खू सा'ब से अभी काम लेने हैं, चढ़तू ! तेरा अभी एक भी लड़का सरकारी नौकरी में नहीं लगा है।" साधुराम ने पासा फेंका।

साधुराम दांव बहुत होशियारी से चलाता है। फिर सरकारी नौकरी ऐसी हड्डी है जिसे चबाने का आनन्द सभी लेना चाहते हैं। कहीं अच्छा महकमा हाथ लग गया, विटामिन 'आर' वाला तो सोना ही सोना...जो नौकरी घर के पास हो तो ज़मीन-खेती का काम 'हाबी' बनकर लुढ़कता है। 'आधे क्लर्क आधे किसान' या 'आधा मास्टर—आधा मज़दूर' चाहे बने रहें। कुल मिलाकर साधुराम की बात में वज़न था। पर चढ़तू ने 'हम भी उस्ताद हैं' के लहजे में उत्तर दिया, "नौकरी।...हा.. हा...हा ! कानों में पीक पड़ गई सुनते-सुनते...तीन 'हालड़' (वर्णशंकर) दस-दस जमातें पढ़कर मेहरे की तरह घूमते हैं...न काम-धाम ! नौकरी देगा

मक्खू, तब तक चढ़तू की कमाई पर डकारें मारो। गधों का गाह्या हुआ है चढ़तू के बाप के घर...।"

साधुराम कृपणता से हंसा, ज्यों हंसी परत-दर-परत खुलने में ही सुख पाती हो। मालूम था चढ़तू बिदकता है। सावधानी से नकेल पर हाथ कसते हुए बोला, "अबकी बार पक्का ! तेरे सामने कान खींचूंगा मक्खू के। जो अबकी टरकाया तो मुझसे बुरा ..फटकने नहीं दूंगा गांव में !"

चढ़तू की आंखों में बेबसी का एक तारा टिमटिमाया। आवाज़ का स्टीरिंग ऊपर की दिशा में स्वत: घूम गया। यूं उसने स्कूल का द्वार नहीं देखा है। जो थोड़ा बहुत काला अक्षर मच्छर बराबर भी जानता होता तो आज देश को उच्च कोटि का एक और व्यंग्यकार मिल गया होता। बोला, "तूने कह दिया तो लग गयी हरामखोर की नौकरी...लाख झकता हूं इन सुअर के बच्चों को कि हथौड़ी-टंकी पकड़ों और पेट भर खाओ। पर दस जमातें जो पढ़े हैं... अनपढ़ बाप की तरह पत्थर तोड़ेंगे तो दो और दो पांच कौन करेगा !"

साधुराम राजनीतिज्ञों के कान कुतरते थे। सेना में पनपा उनका रूखा स्वभाव राजनीति के कीटाणुओं के प्रवेश के साथ मक्खन चुपड़ी लकड़ी की तरह मुलायम हो गया था। हथेली पर से आदमी फिसल जाए तो किस काम की उनकी राजनीति..."मैं सच कहता हूं चढ़तू... मूंछ कटवा दूंगा जो इस बार तेरा काम न हुआ !"

चढ़तू जानता है दूसरे की छाछ पर मूंछ कटवाना चाहे कठिन हो पर मूंछ नरम करना आसान है। उसके क्रोध का बिदका हुआ घोड़ा कुलांचे भरने लगा, "तू बड़ा हरिश्चंद्र का बाप है। झूठ तो चढ़तू बोलता है..."

साधुराम की हंसी की अगली गांठ खुल गई..."मैं जानता हूं तू मज़ाक करता है। पचास रुपये तो तेरे पैर का मैल है।"

चढ़तू का पारा कुछ डिग्री और ऊपर चढ़कर खौलने लगा, "फागू से मांग...वह देगा ...चढ़तू ने ठेका नहीं लिया है।"

फागू साधुराम का बाप था जिसका चतुर्वार्षिक श्राद्ध महीना भर पहले धूम-धड़क्के से सम्पन्न हुआ था। अट्ठाइस मन चावल की धाम रची थी। महा-ब्राह्मण साढ़े तीन सौ नकद और ढेरों सामान बटोरकर लौटा था। फागू का सगा बड़ा भाई माधू चढ़तू के बाप गैंडा का बाप था। पर मदमस्त हाथी के पांव के नीचे सबका...कड़ी से कड़ी बात कहकर साधुराम के मर्म पर आघात के प्रयोजन से चढ़तू ने कहा था पर उसकी हंसी की अंतिम गांठ भी खुल गई, "बात तो तू कलाकारों वाली करता है।"

चढ़तू अपने वारों की निष्क्रियता से तिलमिलाकर रह गया, हारे हुए जुआरी की तरह। आखिर विष बुझा चाकू फेंका, "अपना काम निकालने के लिए लोग गधे को भी बाप बना लेते हैं...पर चढ़तू चमार का पूत जो खोटा पैसा भी दिया...कोई चूतड़ तक ज़ोर लगा ले......सरकारी नौकरी का पैसा नहीं है यहां। रग्ग मरवानी पड़ती है खड्ड में !"

पहाड़ी नाले में चट्टानों का जंगल ! गांव से थोड़ा ऊपर। चारों ओर नीरवता का साम्राज्य। घुटनों के बल रेंगते बच्चे के से गांव के जीवन का अहसास तक नहीं। बरसात में

उच्च रक्त-चाप के मरीज़ के खून की तरह उफनता पहाड़ी नाला आजकल पानी की बूंद के लिए तरस रहा था।

ठक...ठक...ठक...! टंकियों पर पड़ती लोहे की हथौड़ी की कितनी ही आवाजें नीरवता को बेंधती हुई लगातार बज रही हैं। विशालकाय चट्टानों के टुकड़ें करती विकराल ध्वनियां। बजती ही जा रही हैं। अनवरत।

चढ़तू, घौना और भूरा की त्रिकालदर्शी सेना दैत्यों-सी कुरूप चट्टानों से जूझ रही है। दो-चार चरवाहे आमने-सामने के जंगलों में 'होए-होए' अथवा 'जिंदा रह मरणजोगया' की आवाज़ों से चुप्पी की पसलियों में एकाध कील गाड़कर पुनः चुप हो जाते हैं। कभी कोई भूला-भटका पक्षी प्यास से व्याकुल किसी घने वृक्ष की छाया में दुबका चहचहा देता है।

चढ़तू ने हथौड़ी छोड़ माथे का पसीना पोंछा। सामने रेत तले दबी आग को कुरेदा और चिलम भर ली।

भूरे ने काम रोककर मुंह पर हाथ फेरा। मिट्टी की सुराहीनुमा औली से लोटे में पानी उंडेलकर पिया और चढ़तू के सामने आकर पत्थर से पीठ टिका पसर गया।

घौना घन से चट्टान में गड़ी टंकियों पर वार कर रहा था। ठाक...ठाक...ठठाक! और चट्टान दो फाड़।

भूरे ने चबाते हुए तिनके को मुंह से थूकते हुए आवाज़ दी, "आजा ओए कमाऊ पूत... मार ले एकाध सूटा!"

चढ़तू मुंह और नाक से धुंआ उगलते तनिक खांसते हुए बोला, "कमा ले प्यारे लौंडों का पेट भरने के लिए, जब्बरा होगा तो भूखा मरेगा ..कौन पूछेगा तब! अपने हाथ का आसरा ही भगवान है, भाऊआ।"

घौना आ गया। चिलम भूरे के हाथ में थी। बैठते हुए अपने पोपले मुख की हवा का नियंत्रण त्याग बोला, "ले आ ओरे दे...मारिए सूट्टा।"

भूरे ने गहरा कश खींचा। भरे हुए फेफड़ों को खाली करते हुए चिलम घौना की ओर बढ़ा दी। चढ़तू रात के अंधेरे में बिजली-सा कौंधा, "ससुरे समझते हैं झमकू की कमाई है... नाले में पत्थर फाड़ा और नीचे नोट ही नोट गड़े मिलते हैं...जब चाहा मांग लिया चंदा..."

भूरे ने जिज्ञासा प्रकट की, "झमकू कौन?"

चढ़तू बोला, "अरे, इतना भी नहीं जानता, झमकू को नहीं जानता...हि हि हि! ओए ...नेता रा क्या नांव...मक्खू...हां, हां, उसका बाप था झमकू...झमकू लंबरदार।"

भूरे ने हंसने में कंजूसी नहीं बरती। चढ़तू और घौना अपनी-अपनी शैली में इसमें शामिल हुए..."मैं तो लाल पाई न दूं स्सालों को...पचास रुपये दे दो मक्खू के पेट में बकरा भजने के लिए। भला भैंसे की कमाई है? कौन-सा साला बाप लगता है।"

घौना ने निःश्वास खींचा, "मुझसे तो ले गए भाई...साधुराम कह रहा था मेरे लड़के को मक्खू नौकरी लगवा देगा।"

"पचास रुपये का मांस घर लाए तो टब्बर तीन दिन खाएगा," भूरे ने गणित जोड़ा।

घौना पर पश्चाताप का सूरज अपनी उष्ण रश्मियों से आग उड़ेलने लगा। वह मारा गया। दोनों शैतान बच गए। मुओं ने पहले क्यों नहीं कहा। वह भी न दे तो पचास रुपये। चिलम छोड़ काम की तरफ दौड़ा जैसे पचास रुपये शीघ्र पूरे करना चाहता हो। चंदा देने

का अनौचित्य चाशनी की कड़ाही में दूध डालते ही मैल की तरह तह पर आ गया।

चढ़तू ने बुद्धिमत्ता पर अंगड़ाई ली और भूरे ने संतोष की सांस भरी।

पार्वती घाटी में प्रवेश पाते ही दिखाई दी। चढ़तू साहबों वाले टैम रोटी खाता है। शिखर दोपहर पर यानि बिना घड़ी देखे लगभग एक बजे। पार्वती पहुंचा देती है रोटी उसे नाले में। भूरा और घौना खाकर आते हैं।

पार्वती पास आ गई। भूरा चिलम छोड़कर उठ गया।

चढ़तू औपचारिकता निभाने लगा, "भूरे! खाले रोटी...तू खा ले ओए, घौने चार कौर..."

"नहीं..."

"नहीं...नहीं...तू खा। हम तो खाकर आए हैं।"

पार्वती ने गांठ खोली। देखते ही चढ़तू का भोजन छकने का सारा उल्लास क्षण-भर में ही कपूर के धुएं-सा उड़ गया।

मक्का की तीन रोटियां थीं। पाव-पाव आटे से बनी। बाजरे के मिश्रण ने उन्हें सख्त कर दिया था।

"साग नहीं आज ?" आक्रोश भरे शब्द गाली की तरह पार्वती की ओर लपके पर उसने झट से बचाव का आवरण ओढ़ लिया, "कहां है टैम खेत से साग चुगने का...तड़के से चूल्हा चौका; गोबर उठाया—पाथा, घास काटा-छीला, ढोरढंगरों को सानी-पानी...मैं क्या करूं! उधर बुड्ढा जान खा रहा है...कब चुगूं साग...?"

ढेर सारे प्रश्न उसने चढ़तू की ओर उछाल दिये।

दो रोटियों पर पिसा हुआ समुद्री नमक रखकर उसने चढ़तू की ओर बढ़ाया। चढ़तू ने बाएं हाथ को थाली की तरह पसारा। फिर दाएं हाथ से कौर तोड़ने लगा। लाल मिर्च साबुत थी। छाछ का लोटा उसकी ओर बढ़ाते हुए पार्वती ने कहा, "परसों की थोड़ी-सी छाछ बची थी...ले..."

चढ़तू के चेहरे पर एक सूरज उगा। बेबसी का सूरज। हरे साग के बिना छल्ली की रोटी कैसे धकेलेगा गले के भीतर। यह नासमझ इतना भी नहीं समझती। छाछ ले पाएगी साग की जगह...बिन बरसे मेघ-सा गरजने लगा, "आ ओए भूरे! देख तो सही...यह रांड मेरे घर को रेत बना देगी। इतना भारी खर्चा घर का और तीन-तीन सब्जियां खिला रही है...रोटी पर लूण, मिर्च और छाछ ..तीन-तीन सब्जियां! घर का घरयाक्खड़ा करके रहेगी पट्ठी!"

भूरा और घौना काम-धाम त्याग भौंचक्क चढ़तू के रहस्योद्घाटन की प्रतीक्षा में उतावले हो रहे थे। सब्जियों का नाम सुनकर हंसे। उनकी हंसी सब्जियों पर नहीं थी। सब्जी तो वे भी प्रायः ऐसी खाते हैं, पर चढ़तू की भाषा-शैली ने उन्हें खूब प्रभावित किया था।

बहुत बार हुआ है जब कभी रास्ते में चलते-चलते अनायास साधुराम के घर से छौंके की बास नत्थुनों के भीतर घुस गयी और मुंह पानी से भरा गया। अंदाजा तो गंध से लग ही जाता है। कैसा होता होगा छौंकी सब्जी का स्वाद! अपना...पर चढ़तू भी तो अपनी ही तरह

का आदमी है। साग के बिना रोटी नहीं खाता। यूं तड़के छौंके की उसने कभी परवाह नहीं की पर साग चाहिए। बस, हरे पत्तों और मोटे चावलों का पका-अधपका मिश्रण...। चटपटा... नमक मिर्च से भरपूर। सी-सी न हो जाए तो खाया न खाया बराबर।

पार्वती उसके व्यंग्य पर हंस दी। उसकी हंसी में पहाड़ी मंदिर की ठुनकती घंटियों की टंकार नहीं थी बल्कि किसी अग्निशमन गाड़ी में रफ्तार से बजते घंटों का शोर था।

चर्र...चर्र...चर्र...चबाने लगा चढ़तू रोटी। छाछ लाल मिर्च यूं चबाता जैसे सलाद हो।

यकायक गिद्धों का एक झुंड शैंऽईं करता सिर पर से निकल गया। जिज्ञासा ने सब आंखों को ऊपर उठाया। पार्वती ने सूचित किया, "सूहणू की गाय मर गयी। फांदी रगड़कर ले आया है नाले में। चाम निकालेगा...मांस पर झपट पड़े हैं गिद्ध!"

"भूखे हैं बिचारे," भूरे ने अपनी चेतना को समेटा।

"मांस रोज ही थोड़े मिलता है," धौना ने कहा।

फिर ठक...ठक चालू हो गयी। पार्वती ने आकाश में घिर आए बादलों की ओर देखकर चिंता प्रकट की, "बादल छा गया है, पता नहीं ओबरे में इस बार कनक आएगी भी कि खेत में ही सड़ जाएगी।"

चढ़तू ने कौर गले के भीतर ठूंसते हुए वृद्ध योगी की तरह थथलाई वाणी में उत्तर दिया, "तू तो भगवती है...जानती है क्या होने वाला है। भेज दी न धर्मराज ने खबर!"

उसकी पीठ पर ज्यों चाबुक कौंधा। ज़रा रोष में आकर कहा, "सुनता तो है नहीं... पिछली धान की फसल खेतों में ही नहीं रह गयी थी, इतने ओले बरसे थे कि दाना हाथ न लगा...सिर्फ छछरे खड़े रहे थे..."

चढ़तू लंबी सांस छोड़ते हुए बोला, "धान आए होते तो बैसाख की इस जलती दोपहरी में यहां नाले में खपना पड़ता?"

उसने चील के पंखों की तरह हाथ पसारे। दुष्कीर्ति की तरह हथेलियों पर उभरे मरे हुए उत्तकों के छाले दिखाकर झुंझलाने लगा, "दस रुपये दिहाड़ी पर टब्बर के भूखे पेट भरने के लिए पत्थर कूट रहा हूं। तीन-तीन 'हालड़' जने तूने, दस जमातें जो पढ़ गए...पर किस काम के...इधर बुढ्ढे की बीमारी...खपता है चढ़तू तो खपे, किसी के बाप का क्या जाता है...क्यों भाई भूरे...है भाई धौने?" इस बार उन दोनों ने नहीं सुना शायद ठक-ठक-ठक...

"मैं कम खप रही हूं इस जंजाल में..." पार्वती भी कबूतर के सीने की तरह तन गई।

"अच्छा! अब भाषण बंद कर और दौड़ जा घर को," चढ़तू के पौरुष की भट्टी पुनः दहकने लगी, "पंडत को बुलाकर बापू को दिखा ले। घर पर ही होगा। आज इतवार है... धागा धूणी ले...सारा दिन कमाणा और रात को सोने का टैम नहीं...तू मुझे कोल्हू का बैल समझती है।"

"जंतर गले बांध दिया था। पंडत ने धूणी दी थी कल...फिर बुला लाऊंगी..."

गैंडा कई महीनों से बीमार है। लाचार। बिस्तर से बंधा हुआ है। न जी रहा है न मर रहा है। लोग हैरान हैं कि ऐसी भी क्या बीमारी जो ठीक होने का नाम नहीं लेती। जरूर कोई भूत-प्रेत लड़ गया है। बड़े चेले-ओझों को दिखाया। खूब झाड़-फूंक करवाई पर मर्ज़

बढ़ता ही गया।

दवाइयां मंहगी हैं। चढ़तू कहां से फूंके अंग्रेज़ी दवाई में पैसे ? बूढ़े ने पूरी ज़िदगानी अंग्रेजी दवाई को हाथ नहीं लगाया। अब मरती बार धर्म पर कलंक लगाएं। गुरिया वैद की दवाई अच्छा असर करती थी गैंडा को। पर अबकी बार तो ओपरी है। भूत-प्रेत की बीमारी में दवाई से क्या होगा ? कितने ही कुक्कड़ों की बलि दी, कुलजा देवी को पहरू चढ़ाया—भूत-प्रेतों की बहुतेरी झाड़-स्वाहा की, मन-मनौतियां मनाई पर गैंडा नहीं छोड़ता बिस्तर। अंत समा आ गया शायद। ऐसे में क्या होगा, फिर भी कोशिश करना तो इन्सानी फ़र्ज़ है। पर चढ़तू क्या करे। सब काम छोड़ बाप के सिरहाने बैठ जाए तो टब्बर खाएगा क्या ? अकेला वह कमाने वाला। सात-आठ जिऊ निगलने वाले।

पंडत त्रिलोकीनाथ माने हुए चेले हैं। उन्होंने विश्वास दिलाया है, उनका इलाज गैंडा को ठीक करेगा ज़रूर ! मरे हुओं को जीवन दिया है उन्होंने। बड़ा विश्वास करती है पार्वती उन पर। कितने बड़े आदमी हैं। स्कूल में पढ़ाते हैं। बहुत पढ़े-लिखे हैं। हज़ार रुपये से कम महीना तो क्या पाते होंगे ? पर पार्वती को अपना मानते हैं। गैंडा का इलाज़ करने आते हैं तो घंटों उसके पास बैठे रहते हैं। यूं कभी किसी के घर नहीं जाते। पर पार्वती की बात कभी नहीं टालते। अपने आराम की परवाह नहीं। कितना स्नेह रखते हैं पार्वती के साथ।

पार्वती जवानी में बड़ी सुंदर थी। अब पांच बच्चे हो जाने पर भी अच्छी कमनीय देह है उसकी। चढ़तू मरियल है। खुरदरे जिस्म का मालिक। पेट में कुछ पड़े, चिकनाई वगैरह तभी तो कुछ सूरत उभरे। गाल की हड्डियां पिचकी हुई हैं। त्रिलोकीनाथ की तरह दूसरा कौन है गांव में...तभी पार्वती को भी गर्व है !

पिछले कल ही रात गैंडा के पास कितनी ही देर बैठे रहे। कागज़ पर लिखकर, सरसों के तेल में भिगो, पलीतों की धूनी देते रहे उसे। दस जंतर गंगाजल में धोकर पिलाए। कभी किसी को दो-तीन से ज़्यादा जंतर नहीं देते एक साथ। 'नाहरसिंह' जैसी आत्मा से उलझ पड़े हैं उसके लिए। पार्वती के यहां ही सोए रहे बेचारे रात-भर...चढ़तू दिन-भर का थका-मांदा पहरसवेल सो जाता है। दूसरे कमरे में खुर्राटे मारता है तो आधा कोस दूर सुनाई देता है। अजब नींद है मुए की। गांव के गंवार लौंडे कहते हैं कि पार्वती और त्रिलोकीनाथ की बहुत गहरी छनती है !

सांझ ढलने लगी थी। पार्वती त्रिलोकीनाथ को बुला लाई।

अपने-अपने कामों से लौटे थके-मांदे ग्रामवासी गैंडा का हाल पूछने आए। कमरे के कच्चे फर्श पर बिछी बोरियों पर बैठकर पूछते हैं, "गैंडा कैसा है ? कुछ फर्क पड़ा कि नहीं ?"

फर्क क्यों नहीं पड़ा, खैर ! पड़ जाएगा। भूत-प्रेतों की बीमारियां अर्सा तो लेती हैं ठीक होने में। चढ़तू बेचारा बिपत में फंसा है, भाग्य उसका...फिर गप्पें...राजनैतिक बहस, हुक्का-पानी...मक्खू के आने की चर्चा, चंदा देने न देने का औचित्य...महफिल बढ़ती ही जाती है छाछ में पानी की तरह !

त्रिलोकीनाथ का बड़ा मान है गांव में। अनुभवी डाक्टर की तरह उन्होंने गैंडा का मुआयना किया। फिर प्रवचन शुरू। वे बोलने लगे तो शेष चर्चाएं खत्म। ज्ञान का फैलाव... शुद्ध आचरण, धार्मिक होने का महत्व, ईश्वर की महिमा, देवी-देवताओं का प्रभाव, भूत-प्रेतों के बचाव आदि कितने ही अछूते विषय। उनके ज्ञान पर हैरान होते हैं लोग। पूरी किताब है।

चलता-फिरता ग्रंथ ! भगवान का गांव के लिए भेजा गया दूत। दूसरों का हितचिंतक। सभी के लिए हितैषी...मुफ्त सहायक...कोई फीस-वीस नहीं !

पार्वती उनके लिए दूध का गिलास लाई। "बाकी लोगों के लिए चाय आ रही है" यह साथ सूचित कर दिया। चढ़तू बेचैन-सा है, "कुछ करो, पंडत जी ! मैं तो तंग आ गया हूं।"

"प्रयत्न ज़ारी है—उपलब्धि की प्रतीक्षा धैर्य से करें, ईश्वर पर भरोसा रखो।" सांत्वना में उत्तर मिला। कहते-कहते वे दूध का घूंट भरने के लिए रुके। दूध पर तैर रही मलाई की मोटी परत आधी मुंह में घुस गई और आधी बाहर लटक कर गिलास में उलझी दीखने लगी। न भीतर खींचते बनता था न बाहर उगलते। वहां बैठे बहुत से मुंहों में पानी उतर आया।

चढ़तू को पानी निगलते वक्त नाले में मिला छाछ से भरा एल्यूमिनियम का कूबड़ा गिलास याद आ गया। पर अपना-अपना...

फिर 'सड़ाप' की ध्वनि हुई। त्रिलोकीनाथ ज़रा झेंप गए ज्यों किसी ने जूते का तला दिखा दिया हो। सहज होकर पुनः समझाने लगे, "चढ़तू, बूढ़े प्राण हैं। क्या भरोसा, सांस आई न आई...कुछ दान-दक्षिणा जप-तप करवा दो तो धर्म हो...अगली राह सुधरे..."

"जो आप ठीक समझें..." चढ़तू बोला।

"जप रख दो, पंडत जी ! गैंडा तभी ठीक होगा," बीच में एक सलाह उभरी।

"जप से ही ठीक होगा, भाई !" एक समर्थन।

"बाकी उपाय तो सब हार गए..."

"हां-हां ! रखवा दो जप...ज़रूरी है..." दो-तीन आवाज़ें एक साथ आयीं।

"खर्च तो काफी पड़ेगा..."

"खर्च की कौन मार लगी है चढ़तू को...बुड्ढे ने संपत्ति जोड़ी ही है, खोया तो तिल नहीं," एक निर्णायक ध्वनि उभरी।

पार्वती ने दो टूक फैसला सुना दिया, "रखो जप जी...बुजुर्ग के लिए सब करूंगी... कराने वाला ताकत दे।"

त्रिलोकीनाथ के खान-पान में जुटी पार्वती ने दो तीन सब्जियां-दालें, फल-मेवे न जाने क्या-क्या बना डाला। चंडी जाप की कठिन तपस्या में भली खुराक का महत्व अक्षुण्ण है।

दिन-भर की कठिन यात्रा से थका सूरज पश्चिम के क्षितिज में छिप जाने को आतुर था। पंडत जी भोजन को प्राप्त हो रहे थे। रघ्घू दरवाज़े के पीछे छिपा किनारे के चीरों से मुंह में टपकी लारों को भीतर समेटता फटी निगाहों से उन्हें खाते हुए एकटक देख रहा था। जग्गू खिड़की में से झांक रहा था। वह मन-ही-मन उस भोजन के स्वाद का अनुमान करता सूखे होठों पर जीभ फिरा रहा था।

हेमू रसोई के कमरे में बैठा पंडत जी की थाली में परोसे भोजन पर नजरें गड़ाए था। जैसे कोई भूखी बिल्ली विल में घुसे चूहे की ताक में बैठी हो। झपट्टा मारने को लैस। पर त्रिलोकीनाथ की उपस्थिति में आतंकित वह दीनता व भद्रता की प्रतिमूर्ति बना बैठा था।

त्रिलोकीनाथ ने खाना समाप्त किया। फल और मेवों की बोरी थी। पार्वती ने हेमू को आदेश दिया, "आंगन के घड़े से लोटा भर पानी ला...पंडित जी हाथ साफ करेंगे।"

हेमू के गले में पानी का झरना फूट गया। कुछ बोल नहीं सका। वहां से उठना भी हानिकारक था। बाहर गया नहीं कि रघ्घू और जग्गू रसोई झपट लें और वह रह जाए।

इसी उपक्रम में वह दूसरी ओर कुछ यों ही खोजने लगा। तभी त्रिलोकीनाथ लोटा हाथ में उठाए हंस की चाल से दरवाज़े की ओर बढ़े।

तीनों भाई भूखे गिद्धों की तरह रसोई पर झपटे। रघ्घू ने खीर के खाली पतीले पर हाथ मारा। केवल बची एक झीनी-सी परत, जो कड़छी से कुरेदी जा चुकी थी। हाथ से पोंछ-पोंछकर चटकारे लेता हुआ वह उसे चाटने लगा।

जग्गू के हाथ एक दाल और सब्जी की पतीली लगी। एक को बगल में दबाकर वह दूसरी पतीली की नमकीन परत पर टूट पड़ा। पार्वती झींकने लगी..."मर-भुखे हैं मुझे! क्या सोचता होगा पुरोहित...कुत्तों की तरह लपकते हैं।" बाकी बची खाली पतीलियां उसने अपने कब्ज़े में कर ली थीं। हेमू के हाथ खाली रहे तो उसने त्रिलोकीनाथ की झूठी थाली पर अवैध कब्ज़ा जमा लिया।

तभी चढ़तू आ गया..."ल्याव रोटी दें...पेट जल रहा है...दिन में भी तूने आज रोटी नहीं पहुंचाई। सारा दिन भूखे पेट तोड़ता रहा पत्थर...।"

इस कथन की विवशता से अनभिज्ञ पार्वती ने रणचंडी के भाव चेहरे पर समेट लिए, "घर में जप हो रहा है। खाना लेकर नाले में कैसे पहुंचती। इतनी-सी बात नहीं समझता...दो-चार दिन की तो बात है। खुद ले जाया कर...धर्म के काम में तेरी रोटी का विघ्न अच्छा तो नहीं लगता।"

भूखे पेट चढ़तू के व्यंग्य की धार पुरानी दरांती की तरह निस्तेज हो गई थी। वह चुप-चाप बैठ गया।

पार्वती ने सुबह की पकी मक्का की दो रोटियां पीतल की थाली में डाल दी और वह सब्जी की एक खाली पतीली की पीली परत से छूकर मुंह में डालने लगा..."छाछ नहीं है क्या?"

"कहां से होगी छाछ? पुरोहित जी जप में हैं, इतना मेहनत का काम...दूध होता ही कितना है जो उनसे बचाकर रखूं दही जमाने के लिए...चार दिन की तो बात है।" पार्वती ने निर्मम आघात किया।

...चर्र...चर्र...चढ़तू खाने लगा था ज्यों कोई भूखी भैंस अनमनी-सी भूसे में मुंह मारती जुगाली करने में विवश हो। उसके उठते ही तीनों लड़के पार्वती से उलझ पड़े।

"हमारे पल्ले में यही रूखी-सूखी रोटी...घी लाकर दे..." जग्गू तमका।

"कहां से लाऊं...मैंने गाड़ रखा है क्या?"

"पुरोहित को कहां से देती है?" हेमू ने हस्तक्षेप किया।

"शी...!" अधरों पर उंगली रख वह धीमी आवाज़ में बोली," पाप लगेगा, तुझे... ऐसा मत बोल!"

रघ्घू ने विषय पलट दिया, "बापू कितना कंजूस है। मक्खू सा'ब आ रहे हैं। साधुराम के घर धाम पड़ेगी...मीट की धाम! बापू ने चंदा देने से इन्कार कर दिया। कौन फटकने देगा हमें वहां?"

जग्गू ने चटकारा लिया, "बहुत अच्छा मीट बनेगा!"

हेमू ने उक्ति भिड़ाई, "मैं तो चुपके से पांति में घुस जाऊंगा। फिर देखी जाएगी जो होगा।"

"निकाल बाहर फेंकेंगे तुझे लोग," रग्घू ने अपनी बुद्धिमत्ता जताई।

"तो बापू पैसे दे सकता था। हम सब भी खा लेते, इतनी कंजूसी...यहां जप में तो सैकड़ों लग रहे हैं..."

"ओए, चुप रहो गधो!" जग्गू ने रोष प्रकट किया, "धर्म के काम में ऐसे कटु बचन मत बोलो।"

"बापू तो दे भी देता, पर भूरे ने उसे उकसाया हुआ है।"

"भूरा बदमाश है," हेमू ने सुराग लगाया, "खुद तो मीट खाता ही नहीं है...हमारे पेट में लात मरवा दी।" जग्गू ने खुलासा किया।

"निपटेंगे उससे," रग्घू ने इरादा प्रकट किया।

आठ दिन के घोर जप ने भी भगवान को प्रसन्न नहीं किया, शायद पुरोहित की दक्षिणा और सेवा-सुश्रूषा में कमी खल गई हो अंतर्यामी को।

गेंडा की हालत वर्कशॉप में पड़ी मोटर की तरह लगातार बिगड़ती चली गई।

आज साधुराम ईद के चांद की तरह उगा था। पार्वती को डपटने के स्वर में कह रहा था, "तुम लोगों को पता नहीं कब अक्ल आएगी। इसका कुछ दवादारू करो। हस्पताल ले जाकर दिखाओ।"

पार्वती ने क्रोध का घूंट पीकर उत्तर दिया, "जप करवाया, ओपरी का इलाज़ चल रहा है...अंग्रेज़ी दवाई से धर्म भ्रष्ट करें अब आखर में?" साधुराम हंस दिया। उसकी व्यंग्य भरी हंसी पार्वती को दग्ध चिमटे की तरह छू गई। फौज में रह चुका है। उसी का रौब डालता है। पार्वती जानती है अपने को बहुत समझदार समझता है।

तभी भूरा और घोना चढ़तू को सहारा देते हुए लाए। उसने अपनी बाईं आंख हथेली से ढक रखी थी और पीड़ा से कराह रहा था।

"भाभी! इसकी आंख में पत्थर की किकरी ने जख्म..." भूरा प्रथम संवाददाता की तरह बोलने लगा था।

पार्वती ने चढ़तू की हथेली हटाकर देखा। आंख से खून रिस रहा था। कुंगू की तरह लाल थी आंख। प्रयत्न से भी खोली नहीं जा रही थी। प्रकाश उसमें विष बुझे भाले-सा लग रहा था।

भीड़ जमा होने लगी थी। 'क्या हुआ, कैसे हुआ' की उत्सुकता का सैलाब उमड़ चला था। फिर सुझावों की बाढ़ आने लगी।

"हस्पताल ले जाओ," साधुराम ने कहा।

इसे अनर्गल प्रलाप की तरह नकार दिया गया।

"ओए...यह तो बुरा हाल है आँख का।"

"गर्दिश का फेर है।"

"उधर सयाना बीमार है और ऊपर से यह बिपत..."

"हस्पताल..."

"ओए...छोड़ो हस्पताल...कल के लौंडे डॉक्टर बने हैं, क्या जाने इसके बारे में..."

"बिल्कुल ठीक..."

"परले गांव में क्या वह सयानी आंख से कूड़ा निकालती है..."

"हां, बहुत अच्छा..."

"पता ही नहीं लगने देती..."

"वहीं ले चलो...

प्रस्ताव स्वीकार हुआ और क्रियान्वयन में क्षण भर की भी देरी नहीं की गई।

भूरा और घोना ने उसे पुनः सहारा दिया। पार्वती पीछे-पीछे चली। अपने भाग्य पर आंसू बहाती...साधुराम की निंदा करती, "हर वक्त अपनी ही हांकता है। स्वार्थी, मक्कार! पंडत जी परोपकारी हैं...कितने ही विचार...!"

भूरा और घोना समर्थन में हुंकारते रहे। चढ़तू कराहता हुआ दर्द की भयंकरता की याद दिलाता रहा।

मक्खू साहब के आगमन पर उमड़ता जन समूह नदी के बहाब की तरह दीख रहा था।

सड़क का उद्‌घाटन हुआ, सार्वजनिक सभा हुई, फिर जनता की समस्याएँ जानी गईं।

तत्पश्चात साधुराम के घर के आंगन में भोजन के लिए पांते बैठी। मक्खू साहब के साथ गांव के प्रतिनिधि स्वरूप साधुराम बैठे थे। राजनैतिक महत्व के क्रम में शेष कार्यकर्त्ता उनके इर्द-गिर्द सिमटे थे। हर कोई घनिष्ठता की इस परिधि में सिमट जाने को आतुर था। उतावला...आत्मसम्मान का आकांक्षी! पर भाग्य अपना...।

उस ओर शोर उठा, "क्या बात है...क्या बात है...।"

"चढ़तू का लौंडा पांत में घुस आया है।"

"बाहर निकालो..."

"मारो साले को...हरामी...मुफ्तखोर!"

"धक्के देकर परें फेंको कुत्ते को...मुफ्त का माल रखा है ससुरे को..."

"ओए, ज़ोर से मार! कौन सा साला चाचे का पूत लगता है..."

मक्खू सा'ब ने साधुराम से पूछा, "कैसा झगड़ा है?"

साधुराम ने व्याख्या की, "चढ़तू का छोकरा पांत में घुस आया होगा। पैसा नहीं दिया है उसने चंदे का...मुफ्त में डकारना चाहते हैं।"

"नौकरी के लिए तो बहुत झींकता था चढ़तू," मक्खू सा'ब ने याद किया।

"अरे छोड़ो भी! गद्दारों को तो सज़ा मिलनी ही चाहिए," साधारण सी बात की तरह साधुराम ने हल्के दिल से जोड़ा।

"खुद भी नहीं आया चढ़तू?" मक्खू ने पूछा, जैसे इस समारोह में आना कुंभ पर्व में गंगा स्नान सदृश हो।

"वह आएगा भला? आपकी खिलाफत करता फिरता है," साधुराम ने कुशल विद्यार्थी की तरह अपने अध्यापक को खुश करने के लिए निशाना साधा। शायद पांच-सात अंक ही बढ़ जाएं...।

सामने वाली पांत में बैठे साली पंच ने हस्तक्षेप किया, "सज़ा तो दे दी भगवान ने

उसे...आपकी खिलाफत की सजा तो मिलनी ही थी..."

प्रश्नसूचक दृष्टि से मक्खू ने साली की ओर देखा।

साली फिफ्थ कोल्यूमनिस्ट की तरह सूचित कर रहा था, "फूट गई आंख हरामी की... हो गया न काना !"

मक्खू की मुस्कराहट सद्यः प्रस्फुटित पुष्प की भांति बिखरी। साध्रुराम खिलखिलाया। बाकी लोगों ने भरसक सहयोग दिया।

अनायास थोड़ी दूर कहीं इकहरी शंख ध्वनि गूंजी। मृत्यु की सूचक ध्वनि ! फिर कुछ रोने-चीखने की आवाजें उभरी।

"हाय, मेरा बापू !" हवा की लहरों के साथ उड़ आता एक स्त्री स्वर !

"ओए ! यह तो पार्वती है," किसी ने यक-ब-यक कहा।

खाने वालों के हाथ जहां के तहां रुक गए। अनिष्ट की शंका व्याप गई।

गांव की बावड़ी से पानी ढोने वाले बसाखू झींगुर ने कंधे से घड़ा उतारते हुए खबर दी, "गैंडा मर गया।"

जंगल की आग की तरह समाचार पांत में फैल गया। क्षण भर को हवा ठहर गयी।

सामने के जामुन के पेड़ पर एक कव्वे ने 'कां-कां' की। बहुत से कव्वे इस 'कां-कां' में शामिल होकर शोर मचाने लगे।

बसाखू झींगुर ने हाथ बजाकर 'होए-होए' कर उन्हें उड़ाने का प्रयत्न किया। सब कव्वे पेड़ के गिर्द उड़ने-फड़फड़ाने लगे।

क्षण भर के लिए सारा शोर गड्ड-मड्ड हो गया। थोड़ी ही देर में रुके हाथ पतलियों पर परसे मांस भात और मुंह के बीच पूरे आवेग से चलने लगे।

[साहित्य-सोपान, बलद्वाड़ा, जिला मण्डी (हि० प्र०)—१७५०३३]
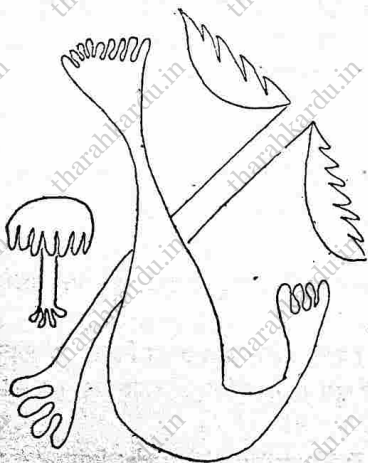
टूटने की गूंज में : पांच कविताएं

□ नन्दकिशोर आचार्य

पकने लगा है हरा

नहीं, अब कच्चा नहीं
पकने लगा है हरा
भूरेपन की ओर बढ़ता हुआ...
एक दिन झर जाऊंगा चुपचाप
कभी जंगल में भटकता पांव कोई
पड़ेगा मुझ पर
मेरे टूटने की गूंज में
पहचानता खुद को !

नया करती हुई

बांज का घना जंगल
दोपहर सूनी
कब से झरे सूखे हुए पत्तों पर
पककर नये झरते पात की
खड़कन

जंगल की ख़ामोशी को
नया करती हुई।

बरसात-सी आओगी

बरसात-सी आओगी
जब आओगी तुम—यह मैं जानता हूं—
और मुझको गला दोगी
घुला दोगी
सूखी घास-से मुझको।

बरसात-सी आओगी
जब भी आओगी तुम, मौत!

पात झरते हुए

अंगारों पर आ गयी राख को
झाड़ती वह
फिर सजाती है अपनी
कांगड़ी पुरानी
बुझ रही आग को
लपट करती हुई।

एक पल की लपट में ही
दमक जाते हैं
सिन्दूरी चिनार के पात
झरते हुए............।

सो जाऊंगा अब

गहराता जा रहा है अंधेरा ठण्डा।
मेरी आंखों में नींद:
अलाव के ताप में पकती अलसता।

सो जाऊंगा अब
फिर उठूंगा नहीं।
रात फिर हो जायेगी दिन
शोर करता हुआ
अपनी व्यग्रता में
भूलता मुझको।

[सुथारों की बड़ी गुवाड़, बीकानेर, राजस्थान]

पांच कविताएं

□ रेखा

कितने वर्ष बीते

क्या तुम्हें याद है अम्मा
कितनी बार तुम दे चुकी हो
चढ़ते सूरज को अर्घ्य ?
अब तक कितनी
एकादशी, द्वादशी, त्रयोदशी
घर भर की तृप्ति से तृप्त
निराहार सोई हो तुम ?

हर दिन घर से
निकले जब भी
देखा तुमको
द्वार पूजते—सिर नवाते
देहरी-देहरी
तन-मन में ओढ़े
धूल भरी सड़कें जब लौटे
पाया तुमको
दिया मांजते - बाती आंजते

माला गूंथते
चौक पूरते या
बित्ते भर धरती पर
राजा-रानी की कथा आंकते

कितने वर्ष बीते
ठाकुर जी के जन्मोत्सव पर
पीताम्बर में फूल टांकते
कितने वर्षों के हुए तुम्हारे गोपाल...

यह जो तुमने कभी कहा था—
बुढ़िया बैठी कात रही है चरखा
चंदा के घर
सच माना था मैंने

फिर भी पूछा था
कहां से पाती है यह बुढ़िया
इतनी कपास
कहां जाती है वह लम्बी डोर

आज सुबह जब
गठियाते हाथों से
सौंपी तूने देहरी-पूजन की थाली
तो जाना
देहरी पूजा है वह घटना
जब हर औरत
बन जाती है
चरखे वाली बुढ़िया

हर रोज़ जो खिलता है
कपास-सा फूल
हमारे आंगन के पूरब में
उसे ही कात रही यह
हर पल और
सृष्टि को टेर रही है
कोख के भीतर से

आज समझ पाई हूं अम्मा—
क्यों कर याद नहीं है तुमको
कब जन्मी थी तू
किसको याद भला है पूछो
कब जन्मी थी
चांद के घर में बुढ़िया।

ज़रूरत

दरवाज़ा खुलते ही
गली दबोच लेती है
और बिना किसी तैयारी के
भीड़ हो जाती हूं

पीठ होते ही
पराया हो जाना
बन्द होती हुई
कुण्डी की तरह
गांठ बांध देता है भीतर

उस एक क्षण
पूरे अस्तित्व की
एक ज़रूरत होती है

दरवाज़े और गली के बीच
एक आंगन
घर और बाहर के बीच
खुली ज़मीन,
खुले आकाश का
टुकड़ा भर विस्तार
जहां होना
दोनों जगह होने का
आश्वासन है।

संवाद

तने में गड़ी
कंटीली बाड़ से
कहता है पेड़
कहां तक छीलोगी
बहुत गहरा है मेरा सब्र।
सीमा पर खड़े
बूढ़े पेड़ से कहती है बाड़
सुनी नहीं क्या तुमने राजाज्ञा ?

इस देश और उस देश की
सीमा पर कंटीली बाड़ लगेगी
जहां से भी गुज़रा है
राजा का अश्वमेधी घोड़ा
धरती ने पेश किया है
दो टूक कलेजा अपना
तुम्हीं क्यों तने हो
निषेध बनकर...

दौड़ती हुई कंटीली बाड़ से
बोला यूं पेड़—
मेरे तने शरीर को छीलकर
निकल जाओ तुम
ऊर्ध्वगामी शाखाओं की तरह
मेरा व्यापक चिन्तन
और मिट्टी के पोर सहलाती
मेरे ममत्व की जड़ें
बदल नहीं सकतीं
इनके विस्तार की दिशा
किसी भी राजा की
राजाज्ञा।

अलख निरंजन

द्वार पर
किसी औघड़ की अलख जैसी
गूंजती है
जंगल में रेल की पुकार
क्षण भर सिहर उठे
पत्तों की तरह
कांप उठता है
कढ़ाही में
गृहस्थन का कलछुल

फिर आंख झपकते
जग के कोलाहल में
खो जाती है
औघड़ की अलख
सुरंग में खो गई
रेल की तरह ।

टोपी

हितचिन्तक थे वे
कहा था जिन्होंने
सारा सोच
किसी सजावटी टोपी की तरह पहनो
ताकि सुविधा रहे
कभी भी उतारकर रख देने की
या अवसर पड़ने पर
उठाकर पहन पाने की ।

भूल तुमसे हुई बंधु !
मैंने देखा है

दिन-ब-दिन बढ़ता
टोपी से तुम्हारा मोह

जब भी दोस्तों को
आइने की तरह
देखा तुमने
समवेत स्वर से सुना यही
खूब फबती है
तुम पर यह टोपी

फिर धीरे-धीरे
भूल गये तुम
कि तुम नंगे सिर पैदा हुए थे।

[27/1, बालूगंज, शिमला-171005]

तीन कविताएं

☐ अशोक चौहान

ईथर का दीपघर

खुशी
स्वप्निल मीनार पर
टिमटिमाता
ईथर का दीपघर
चाहता आदमी
बस अंजलि भर।

बसती कहां यह
मरीचिका बावड़ी ?
प्रियतम के नयनों के कोने में
या दिन भर टूटकर सोने में ?

मनचाहा व्यंजन पाना
या नहाते हुए घर्राकर गाना ?
हिमालय की कन्दरा
या डिस्को की आधुनिक गुफा ?

पैगम्बर कहते
खुशी बहती अपने ही भीतर
झांको और पाओ अनन्त सागर,
सागर किसे चाहिये ?
हर कोई चाहता
अंजलि भर खुशी।

जो सौ फाइलों का बोझ
कर दे फूल-सा,
और दौलत का चिड़ियाघर
लगे फिजूल-सा,
पिकनिक-सी लगे जिम्मेवारी
और चुनौतियां
कंचे खेलने-सी।

खुशी
स्वप्निल मीनार पर
टिमटिमाता
ईथर का दीपघर
चाहता आदमी
बस अंजलि भर।

मृत्यु दान

तुम ढोंगी, दुहरे व्यक्तित्व
उबरने दो गलीज कीचड़ से
रुंधी सांस को।

छोड़ दो
ढहती मीनार में
चिड़ियों के घोंसले
टिकाने का शौक।

जानता हूं तुम करते हो
शव जीवित रखने का प्रयोग,
जो मर चुका, गल चुका
उसकी सांस चलाते हो
बहुत तकनीकी नादिर हो तुम।

वध नहीं, संहार नहीं
मृत्यु व जीवन के बीच की देहरी पर
अधजले पतंगों-सी
देहें जब फड़फड़ाती हैं
तो आंखें तुम्हारी
मुस्कुराती हैं।

तुम संजोना चाहते हो
वह नरक
जहां आने पर
नहीं किसी का बस
और जाने का हक
छीन लिया तुमने।

सलीब पर चढ़ा
न निकलने देना श्वास
आह! मृत्यु की असीम आस
ओ, ढोंगी, दुहरे व्यक्तित्व
उबरने दो गलीज कीचड़ से
रुंधी सांस।

निओन साइन

भेड़ की पीठ का ऊनी उलझाव
झाड़ियों के बीज से
बेतरतीब शब्द
धूमकेतु की मायावी दुम
गिरफ़्त में त्रस्त ज़िन्दा ग्रह
फिर धुंधलका, मोतियाबिन्द
और ब्लैक होल की बेपनाह गहराई।

वैसे चांदनी की कमी
किसी कालखण्ड में नहीं होती
और हर प्रतिबद्ध पहाड़
उगा सकता है चांद
फिर भी देवदार की पतित
सूखी पत्तियों में गुम
टुकड़ा-टुकड़ा बिखरी
गंवई-सी कुम्हलाती चांदनी।

शिखर पर ओज भरा
इस्पाती कन्धों पर धरा
निओन साइन
कुलीन मुस्कुराहट फेंकता
वांछित, सन्तुलित—
मैकियेवली से आगे
चाणक्य से ऊपर
शब्द विजेता वह।

[ठंडी कोठी-अनेक्सी-3, शिमला-171001]

[एज़रा पाउण्ड (1885-1973 ई०) आधुनिक आंग्ल कविता के पितामह थे। वे काव्य में मुक्त छंद के प्रवर्तक बने। उनके काव्य में मिथक और प्राचीन दर्शन पौराणिक ग्रंथों से आकर अपनी पहचान बनाते हैं। उन्होंने इंग्लैंड में विक्टोरिया परंपरा की गहरी जड़ों को उखाड़ने का जीवट काम किया है। पाउंड ने अपने कैंटोज (सर्गों) में ग्रीक और जापानी पौराणिक कथाओं से नायक या खलनायक लिए हैं। उनके कैंटोज कालातीत काव्य हैं। उन्होंने चीनी और जापानी कविताओं से हमें परिचित कराया। आज चीनी कविता का रूप विधान पाउण्ड की अनुवाद साधना से ही मिला है।

अमेरिका के इडाहो राज्य के हेली नामक कस्बे में 30 अक्तूबर, 1885 में जन्में एज़रा पाउण्ड ने सन् 1901 में पेनासिलवानिया विश्वविद्यालय में प्रवेश किया सन् 1945 में उन्हें पागल घोषित कर दिया गया। पाउण्ड की अवधारणा कविता को गद्य की तरह लिखने की रही। उनके साहित्य शास्त्र (रेटरिक) में कोई अफलातूनी स्वर नहीं है।]

एज़रा पाउण्ड की सात कविताएं

डोरिया

अनावृत पवन की
शाश्वत मन:स्थिति की तरह मुझमें समाओं,
नश्वर चीज़ें—
फूलों के आह्लाद जैसी नहीं हैं।
धूप रहित खड़ी चट्टानों
और धूसर झीलों का
उत्कट एकाकीपन है मुझमें।
आने वाले दिनों में
देवताओं को विनम्रता से कहने दो,
ऑरकस के रहस्यमय फूल
तुम्हारी याद दिलाते हैं।

0 डोरिया : प्राचीन ग्रीक राज्य की चयनिका से सूक्ति
0 ऑरकस : अधोलोक का प्राचीन रोमन देवता

समाधि-लेख

फू आई
ऊंचे बादल और पहाड़ी को प्यार करता था फू आई
हाय, वह शराब से मर गया।

ली पो
और ली पो शराबी भी मर गया।

उसने ह्वांगहो नदी में चन्द्रमा का
आलिंगन करने की कोशिश की थी।

रोम

'ट्राय का रोम पुनर्जीवित होता है।'
—प्रोपरशस

ओह ! तुम अजनबी रोम में रोम का पता लगाते हो
और रोम में कुछ नहीं पाते हो तुम रोमवासी को
नहीं बुला सकते हो;
खंडित मेहराबें और राजभवन सामान्य हो गये
रोम का नाम केवल इन दीवारों में रहता है।

देखो अभिमान और पतन कैसे हो सकता है
जिसने समूची दुनिया को अपने कानून के नीचे ठहराया है
अब जीत की सर्वोच्च विजय
क्योंकि समय का वह मारा है और समय सबको मिटाता है।

रोम जो रोम का एकमात्र अंतिम स्मारक है
रोम जिसने अकेले रोम का कस्बा जीता है
इकलौती टाइबर, क्षणिक और समुद्र की ओर मुड़ी
रोम के अवशेष हैं, ओ ! दुनिया, तू अविश्वसनीय
स्वांगिया है !

[एज़रा पाउण्ड (1885-1973 ई०) आधुनिक आंग्ल कविता के पितामह थे। वे काव्य में मुक्त छंद के प्रवर्तक बने। उनके काव्य में मिथक और प्राचीन दर्शन पौराणिक ग्रंथों से आकर अपनी पहचान बनाते हैं। उन्होंने इंग्लैंड में विक्टोरिया परंपरा की गहरी जड़ों को उखाड़ने का जीवट काम किया है। पाउंड ने अपने कैंटोज़ (सर्गों) में ग्रीक और जापानी पौराणिक कथाओं से नायक या खलनायक लिए हैं। उनके कैंटोज़ कालातीत काव्य हैं। उन्होंने चीनी और जापानी कविताओं से हमें परिचित कराया। आज चीनी कविता का रूप विधान पाउण्ड की अनुवाद साधना से ही मिला है।

अमेरिका के इडाहो राज्य के हेली नामक कस्बे में 30 अक्तूबर, 1885 में जन्में एज़रा पाउण्ड ने सन् 1901 में पेनासिलवानिया विश्वविद्यालय में प्रवेश किया सन् 1945 में उन्हें पागल घोषित कर दिया गया। पाउण्ड की अवधारणा कविता को गद्य की तरह लिखने की रही। उनके साहित्य शास्त्र (रेटरिक) में कोई अफलातूनी स्वर नहीं है।]

एज़रा पाउण्ड की सात कविताएं

डोरिया

अनावृत पवन की
शाश्वत मन:स्थिति की तरह मुझमें समाओं,
नश्वर चीज़ें—
फूलों के आह्लाद जैसी नहीं हैं।
धूप रहित खड़ी चट्टानों
और धूसर झीलों का
उत्कट एकाकीपन है मुझमें।
आने वाले दिनों में
देवताओं को विनम्रता से कहने दो,
ऑरकस के रहस्यमय फूल
तुम्हारी याद दिलाते हैं।

0 डोरिया : प्राचीन ग्रीक राज्य की चयनिका से सूक्ति
0 ऑरकस : अधोलोक का प्राचीन रोमन देवता

समाधि-लेख

फू आई
ऊंचे बादल और पहाड़ी को प्यार करता था फू आई
हाय, वह शराब से मर गया।

ली पो
और ली पो शराबी भी मर गया।

उसने ह्वांगहो नदी में चन्द्रमा का
आलिंगन करने की कोशिश की थी।

रोम

'ट्राय का रोम पुनर्जीवित होता है।'
—प्रोपरशस

ओह ! तुम अजनबी रोम में रोम का पता लगाते हो
और रोम में कुछ नहीं पाते हो तुम रोमवासी को
नहीं बुला सकते हो;
खंडित मेहराबें और राजभवन सामान्य हो गये
रोम का नाम केवल इन दीवारों में रहता है।

देखो अभिमान और पतन कैसे हो सकता है
जिसने समूची दुनिया को अपने कानून के नीचे ठहराया है
अब जीत की सर्वोच्च विजय
क्योंकि समय का वह मारा है और समय सबको मिटाता है।

रोम जो रोम का एकमात्र अंतिम स्मारक है
रोम जिसने अकेले रोम का कस्बा जीता है
इकलौती टाइबर, क्षणिक और समुद्र की ओर मुड़ी
रोम के अवशेष हैं, ओ ! दुनिया, तू अविश्वसनीय
स्वांगिया है !

जो तेरे समय में अटल रहता हैं चकनाचूर हो जाता है,
और जो जल्दी चला जाता है समय की गति से
पीछे होता जाता है।

प्रोपरशस : *C* 50—*C* 15 *B.C.*) रोमन कवि

मित्र की बिदा

दीवारों के उत्तर में आसमानी पहाड़
उनके चौतरफा लिपटती शुभ्र निर्झरिणी
हमें इसी जगह अलग होना है
और हज़ारों मील निर्जीव घास से होकर जाना है।

विशाल मेघ की तरह चंचल मन,
विगत परिचय की बिदा जैसा सर्यास्त
कौन अपने आलिंगन करते हाथ फ़ासले पर झुकाते हैं,
आपस में हमारे घोड़े हिनहिनाते हैं
हम हो रहे हैं बिदा।

चिन्तन

जब मैं कुत्तों की विचित्र आदतों पर ध्यानपूर्वक सोचता हूं
मैं कृतसंकल्प हूं
कि आदमी श्रेष्ठ जानवर है

जब मैं आदमी की विचित्र आदतों पर सोचता हूं
मेरे मित्र, मैं मानता हूं, किंकर्त्तव्य विमूढ़ हूं।

अभिवादन

ओह पूरी तरह आत्मतुष्ट
और पूरीतरह बेचैन पीढ़ी
धूप में सैर-सपाटे करते मछुवारों को मैंने देखा है
उन्हें अस्तव्यस्त गृहस्थियों के साथ मैंने देखा है
उनकी भरपूर मुस्कानें मैंने देखी हैं
और उनकी फूहड़ हँसी मैंने सुनी है ।

तुमसे मैं सुखी हूं
मुझसे वे सुखी थे;
अपने कपड़ों के बिना भी
मछलियाँ झील में तैरती हैं।

उपसंहार

ओ मेरे गीत
तुम इतनी उत्कंठा और जिज्ञासा से
क्यों देखते हो लोगों के चेहरे
क्या उनमें तुम्हें
अपने खोये गुज़रे मिल जाएंगे ?

अनुवाद : एम० एस० पटेल

समीक्षा

पहाड़ खुल रहे हैं

□ श्रीनिवास श्रीकांत

पहाड़ चिरकाल से अपने में ही दुबके रहे हैं। यहां की लोक संस्कृति एवं कला मैदानियों के लिए एक अर्से तक अनजानी रही। यही कारण है कि उत्तरी भारत के विभिन्न पर्वतीय अंचलों के साथ-साथ हिमाचल भी काफी समय तक देश की प्रमुख धारा से नहीं जुड़ पाया। गत तीन दशकों में हिमाचल प्रदेश ने सभी क्षेत्रों में अभूतपूर्व प्रगति की है। अन्तरिम घाटियों में पहुंचती सड़कों तथा जन-संचार माध्यमों ने इसे गमनीय बना दिया है।

पहाड़ खुल रहे हैं। पहाड़ खुल गए हैं। और लगातार खुलते जा रहे हैं। संस्कृति के साथ-साथ यहां का साहित्य भी 'दिल्लीवान' लोगों तक पहुंचने लगा है। आज से बीस वर्ष पूर्व कविता के नाम पर शायद एक-आध ही पुस्तक प्रकाशित हुई होगी लेकिन गत चार-पांच वर्षों में ही प्रकाशित पुस्तकों की बाढ़-सी आ गई है जो यह ज़ाहिर करती है कि हिमाचल का साहित्यकार अब घाटियों के बन्द पिंजरे में क़ैद नहीं रह सकता।

'खुल रहे पहाड़' पहाड़ी-हिन्दी (अगर ऐसा कहना संकुचित न लगे तो) कवियों की इस उड़ान का संकेत चिह्न है। संकलन में इस भूखंड के नौ कवि हैं जिनकी कविताओं में प्रायः वही तेवर देखने को मिलेंगे जो देश के अन्यत्र लिखने वाले कवियों में हैं। इनमें खेत-खलिहान से लेकर संसद-बाज़ार तथा शहर-गली से लेकर महानगरों तक के अनधुंधले चित्र देखने को मिलेंगे।

संकलन के दो कवियों, **कुमार कृष्ण** और **तुलसी रमण** में हिमाचली परिवेश के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं। कुमार कृष्ण का कवि अपने गांव और उसके आसपास को एक चितेरे की तरह अपनी कविता में ढालने के लिऐ आतुर नज़र आता है। पहाड़ के किसान के लिए पेड़ धरोहर हैं जिन्हें जंगलात की ठेकेदारी ने बुरी तरह ज़िबह किया है। किसान के लिए पेड़ क्या अहमीयत रखते हैं, उसका ज़िक्र 'धूप, पेड़ और रोटी की ख़ुशबू' शीर्षक कविता में बड़े सशक्त ढंग से हुआ है। बानगी लीजिए—

> **पेड़ के साथ जन्म से लेकर/मेरा एक घनिष्ठ सम्बन्ध है**
> **पेड़ पैदा होने से लेकर मरने तक/जिस्म के जलने की/जिंदा शहादत है।**
> **पेड़ भागती हुई ज़मीन को पकड़ने वाली/बांहों का नाम है**

पेड़ जंगल में भटकी रोटी की खुशबू है/पेड़ धूप की रोटियां चुराने वाली/
औरत का नाम है

इस सदी के ऊर्जा संकट को कवि ने 'डरावने मौसम की प्रतीक्षा' में व्यक्त किया है। पृथ्वी के स्रोत सूखते जा रहे हैं क्योंकि वह व्याख्या जो हमारे बुजुर्गों ने कभी तय की थी, उस पर अमल नहीं हो रहा—

मैंने सुना/बहुत कम रह गई है अब/धूप बेचने वाले सौदागर की उम्र
उसका सिकुड़ता शरीर नहीं बांट सकता/बर्फ़ और अंधेरे के सिवा

तुलसी रमण की कविताओं में पहाड़ का दर्द बड़े ही मार्मिक ढंग से उजागर हुआ है। 'ढलान पर के आदमी' की नियति है बूढ़े पहाड़ के कन्धों पर खेलना, चढ़ना, फिसलना—इसी में पूरी हो जाती है उसकी जीवन लीला। ढलान पर की इन कविताओं से गुज़रते हुए पहाड़ अन्दर ही अन्दर चुभने लगते हैं क्योंकि इनको सजाने-संवारने वाला आदमी अपने निर्माण और संघर्ष के बावजूद लगातार उपेक्षित और फलहीन बना रह जाता है; फिर भी उसके लिए पहाड़ ही सब कुछ हैं—

इस आदमी ने/सोख रखी है/सयाले की बर्फ़ में दबी आग
और चैत में कूजे की खुशबू
समा गया है भीतर/आषाढ़ की दोपहरी में/ढलान पर रंभाती गाय का गऊपन
और धुन्ध में दबे सावनी पहाड़ के/ सीने से उतरते/निर्झर का संगीत

पुस्तक का शीर्षक भी मूलत: रमण की कविता 'ऐसे भी खुल रहे पहाड़' से लिया गया है लेकिन इसके कलेवर से बाहर निकलकर यह शीर्षक एक व्यापक अर्थ ग्रहण करता है।

'भेड़' रमण की सबसे सशक्त कविता है। कवि ने इसमें 'हांकी जा सकने वाली जनता' का सटीक चित्रण किया है। यहां भेड़ का मनोविज्ञान नहीं, उसकी सामाजिक स्थिति ही अधिक हावी है। इस प्रकार की प्रस्तुति एकदम नयी, मौलिक और लाक्षणिक है—

सिंहासन सजते हैं भेड़ की ऊन से
राज तिलक भी होता है भेड़ के खून से
पर निरीह भेड़ ठगी-सी/बस ऊन होती है या खून

इस तेवर की कविताएं प्राय: धूमिल के बाद देखने को कम ही मिलती हैं। कवि प्राय: अपने 'आसपास' की बजाए अपने 'दूरस्थ' की चिन्ता में अधिक नजर आता है।

व्यंग्य और प्रहार आज की कविता के महत्वपूर्ण आयुध हैं। **महाराज कृष्ण 'काव'** अफ़सरशाही में जीने वाले कापुरुष व्यक्ति की लाचारी को बड़े ही विकट ढंग से सामने लाते हैं। मगर विकट होते हुए भी उसमें नाज़ुक बयानी का पुट है जो उनके कथन को प्रिय बना देता है :

मुझसे बॉस का एकाकीपन नहीं देखा जाता...
अपनी काली फैशनेबुल ऐनक उतार कर बोले
तुम्हारी भाभी मायके गई है/शाम को ब्रिज खेलने आ जाना
थोड़ी स्कॉच भी साथ लेते आना/मेरे पास नई ब्लू फ़िल्म भी है
ब्रिज के बाद मुझे डिनर पर रोका/आने से पहले टोका—
वह तुम्हारी प्रमोशन का केस है न/और यहीं रुक गए...(आदि)

व्यंग्य का जो ठाठ निराला की 'सांध्य काकलि' में उभरा था उसने छायावाद की धुन्ध को हमेशा-हमेशा के लिए खत्म कर दिया था। कवि की कविताएं भी बुनियादी तौर पर उसी धारा से जुड़ी हैं जो अब महाधारा में बदल गई हैं। 'लदामाल' शीर्षक कविता में कवि प्रगतिशील तेवर के साथ सामने आया है। इसमें और निराला की प्रगतिशील कविताओं में कितनी समानता है? बानगी लीजिए :

शिमला के माल पर/हातों की मैली/कमान की तरह मुड़ी
पीठ पर लदा माल होने जा रहा/ किसी मालदार मालिक की मालती के
मालामाल भावी पति के गले की माला

आनन्द का कवि अपने देश और काल से पूरी तरह जुड़ा है। वह देश में हो रही राजनीतिक साजिशों के प्रति सजग है। 'गाय की मृत्यु' में हाल ही में भड़की हिंसा का ज़िक्र है। हिंसा का यह चित्र न केवल रोमांचक है बल्कि भयानक भी :

और तब एक दिन/हरे-भरे मैदान में चरती
संतुष्ट जुगाली करती/बछड़ों को चाटती-पालती
उस गाय पर हमला बोल दिया शपथ बद्ध गिद्धों ने
किसी ने तोड़ लिए सींग/किसी ने पूंछ कान/और उस भीमकाय/वज्रदन्ती गिद्ध ने
लहू लुहान गाय की आंतें निकालकर हवा में उछाल दीं

आज़ादी, शान्ति आदि को आनन्द ने अपाहिज लड़की अथवा गाय जैसे प्रतीकों में बांध कर मानवीय संवेदना की सही व्याख्या की है। उदाहरणार्थ :

(क) जब एक अपाहिज लड़की/खड़े होने की चेष्टा में
लड़खड़ाती है—
विन्ध्याचल के माथे पर/बल पड़ जाते हैं।
(ख) जब कभी वह कमज़ोर-सी लड़की/सचिवालय की ऊंची देहरी तक पहुंचती है
हिन्द महासागर/बौखलाकर खड़ा हो जाता है

सत्य का कटुबोध और हताशा केशव की कविताओं का मूल स्वर है। ज़िन्दगी से हारा हुआ व्यक्ति सत्य को तटस्थ आंख से देखता है। वह व्यक्तिगत नैतिकता और अपने आसपास की असारता के प्रति प्रश्नाकुल है। सत्य के एहसास से जूझती इन कविताओं का मगर एक सुनिश्चित सौन्दर्यशास्त्र है जिससे हर रचना कैनवास पर पुती अमूर्त पेंटिंग की तरह लगने लगती है। जैसे 'अंधी मछली' में "एक आवाज़ सूखे पत्ते की तरह लड़खड़ाती है, हल्की नीली **रोशनी में। कमरा उभर उठता है, एक औरत की गन्ध से और सहसा दीवार पर टंगी नीग्रो औरत के लाल होठों पर, चिपक जाती है औरत की सिसकियां।"**

केशव के पास कविता की भाषा है। संक्षिप्त, सारांशमय और गैरज़रूरी शब्दजाल से रहित। क्योंकि शब्द से ज़्यादा शब्द के 'लिरिक' और चित्र के समग्र प्रभाव पर कवि का अधिक जोर है—

(क) दिन भर वह/भागता सड़कों के पीछे/भागता रहा
पर सड़क निकल गयी उसके हाथ से
(ख) फुसफुसाहटें पिघलने लगती हैं/मोमबत्ती की तरह
और अपने स्तनों के भार तले/दब जाती है औरत

सीधे कथन की ललक में कुछेक कविताएं सूक्तियां बन गई हैं। जैसे 'नींद नींद में', 'परिन्दे' और 'शब्द'। लेकिन ऐसी रचनाओं की निष्कृति सूक्ति बनने में ही है। "बत्तीसवें जन्मदिन पर' शीर्षक कविता में कवि अपने आसपास के जनमन से जुड़ा है और अपनी ज़िन्दगी के बत्तीस सालों में उसने जो कुछ अनुभव किया है वह सार रूप में कविता की पंक्तियों में सहसा उभर आया है। इसमें शिकायत है, आक्रोश है और है वस्तु स्थति का सही जायज़ा :

(क) तमाम कोशिशों के बावजूद/डूबता जा रहा हूं
गर्व से सीना तानें बढ़ती/आज़ादी की धुंआती चिमनी में

(ख) ···देश का नेता/दुनिया में अपना नाम/रौशन करने के चक्कर में/
चला रहा हवा में तलवारें
मुझे सिखा रहा/कागज़ की नावों में बहने का मंत्र

(ग) रेशमी जिल्दों में जकड़ा इतिहास
पुस्तकालयों के अंधेरे परित्यक्त कोने में तोड़ रहा है दम

अरविन्द रंचन इस संकलन का सम्पादक ही नहीं, संकलित नौ कवियों में से एक कवि भी है। 'संकलन का तर्क' शीर्षक भूमिका में सम्पादक ने इस संग्रह के नामकरण और इसके प्रकाशन के औचित्य को स्थापित करने का प्रयास किया है तथा पर्वतीय पृष्ठभूमि में संकलित कवियों के रुझानों और भावबोध पर प्रकाश डाला है। भूमिका के उपरांत एकाएक सम्पादक का रोल समाप्त हो जाता है क्योंकि अनेक कविताओं में भाषा की त्रुटियां यहां-वहां दृष्टिगत की जा सकती हैं। एक कवि के रूप में अरविन्द की संकलित कविताएं उसके उन्मेष काल की ओर संकेत करती हैं। 'सुमन एक नाम' कवि द्वारा लिखी गई एक प्रेमगाथा जो विभिन्न अमूर्त देहिल भंगिमाओं और डिटेल के साथ एक व्यापक फलक पर प्रस्तुत हुई है। पूरी कविता में एक मिथकीय वातावरण है जिसकी जड़ें प्रेमगीति के रूमानी स्तर से नीचे उतर उपासना-कर्म के धरातल तक पहुंचती है।रोमान्स के सन्दर्भ में ऐसी भदेसात्मक संरचना का मतलब निकालना भूल होगी। रंचन की कविता दरअसल बीट आन्दोलन से काफी प्रभावित है जो कि उस जैसे भावबोध वाले महत्वाकांक्षी कवि के लिए न केवल अनुसरणीय है बल्कि उपयुक्त भी। जीवन सन्दर्भों में मिथक को खण्ड-खण्ड चीन्हना आधुनिक काव्य में बीट से ज़्यादा और किसी ने नहीं किया। फिर भी इन कविताओं को बीट काव्य का अनुसरण नहीं माना जा सकता क्योंकि इस दृष्टि से वह काफ़ी 'अपने आप में जिया हुआ' और इहलोक से दूरस्थ (रिमोट) है। अरविन्द की कविता का गन्तव्य सम्भवत: बीटों जैसा नहीं है, उन सरीखा बेशक नज़र आता हो।

अरविन्द की कविताओं में एक सुनिश्चित ज्यामिती और ग्राफ़ है जो कि शब्द-चित्रों को ठोस और सुस्पष्ट बना देता है। इनमें स्थापत्य के सभी मूल तत्व निहित हैं :

(क) बाहर धूप में आईना छूट गया/बढ़ आई एक से अनेक चेहरों की बाढ़
सूर्य फैलकर हो गया सपाट/घूमता रहा नाभि पर रुका कोणार्क चक्र
दो अलग-अलग भेद वाली एक दृष्टि देखती रही/अन्दर का क्रीड़ा काण्ड
(एक डूबता हुआ पेड़)

(ख) परछाइयों की परिधियां किन्हीं खिड़कियों के शीशों पर
एक टूटे हुए सूरज का दिन एक पहचान एक सगापन

एक अपरिचिता की 'पहली रात' भोग और पूरापन
(सांप कटे शीशों शक्ति साधना)

अरविन्द का काव्य विसंगति की व्याख्या है। असिलसिले वार भाषा पदों की संरचना के बीच से उभरती एक और भाषा—एक और मिथक का अन्वेषण। अरविन्द की कविताओं में उक्तिवैचित्र्य लेकिन कभी-कभी अत्यन्त वक्रोक्ति के कारण अर्थ दुरूह हो रहते हैं। कवि के लिए ऊर्जा ज़रूरी है।

इन कवियों के अतिरिक्त इस संकलन में **अनूप सेठी, रेखा** और **मधुकर भारती** की चार-चार कविताएं शामिल हैं। रेखा की कविताएं जहां अधिक परिपक्व हैं और अनुभूतिपरक हैं, वहां मधुकर भारती की अधिक अपरिपक्व और सपाट गद्यात्मक अनूप सेठी की कविताएं कथन क्षमता और विषय वस्तु के बावजूद भाषा की दृष्टि से कमसिन नज़र आती है।

संघर्ष-संकुल जीवन-स्थितियां और कथात्मक प्रतिक्रिया

☐ डा० पुष्पपाल सिंह

आज व्यक्ति का परिवेश संघर्षपूर्ण जीवन-स्थितियों के कारण अत्यंत विषाक्त हो गया है। यदि आर्थिक मुहानों पर व्यक्ति, चाहे छोटा हो या बड़ा, एक लड़ाई लड़ रहा है तो दूसरी ओर मानवीय संबंधों में एक बिखराव, खालीपन और रीतने का भाव आया है। नगर, महानगर और गांव सभी में जीवन-स्थितियां इन्हीं दो कारणों से अत्यंत दमघोंटू हो गई हैं। रचनाकार अपनी चुनी हुई विधा में जीवन के इन्हीं सरोकारों पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। सामान्य व्यक्ति तो केवल उन स्थितियों को जीता है, वह उनका भोक्ता है जबकि जागरूक साहित्यकार उनके प्रति रिएक्ट करता है। **विजय सहगल** के कहानी संग्रह **'आधा सुख'** में जीवन की इन्हीं संघर्ष-संकुल स्थितियों पर रचनाकार की प्रतिक्रिया कथात्मक रूप में अभिव्यक्ति पाती है। यद्यपि विजय सहगल की कहानियां पत्र-पत्रिकाओं में पहले भी देखी हैं किन्तु पुस्तक रूप में यह उनकी कहानियों का प्रथम संकलन है।

विवेच्य संग्रह में कुल तेरह कहानियां आई हैं। मात्र 71 पृष्ठों में समाई इन छोटी कहानियों को लेकर शिल्प-स्तर पर एक बात यह भी है कि लेखक ने अपने कथ्य को अनावश्यक विस्तार नहीं दिया है। कहानी को जीवन की एक झलक, या फिर एक कौंध भी कहा गया है। कहानी आकार में जितनी छोटी होगी, उतनी ही तीव्रता और क्षिप्रता से वह अपना मंतव्य पूरा

कर सकेगी। विजय सहगल अपने पहले संग्रह में ही यह महारत हासिल करते दिखायी देते हैं।

इन कहानियों में अधिकांश की कथा-भूमि (लोकेल) महानगरीय है। बम्बई-जीवन पर कई कहानियां हैं और दो कहानियां दिल्ली-जीवन पर भी हैं। पहाड़ी अंचल या लेखक की स्मृति का गांव भी कई कहानियों में आया है। कहीं महानगरीय जीवन-स्थितियों के समानान्तर गांव की स्थितियों को रखकर देखा गया है तो कहीं महानगर में रहते गांव की स्मृति सालती है। प्रस्तुत संग्रह में मुझे 'दलदल' कहानी सबसे सार्थक, सशक्त और आकर्षक लगी। उसका कारण यही है कि यहां कथा-नायक नगरीय जीवन मूल्य और ग्रामीण जीवन-मूल्यों के बीच में लटक रहा है। यह व्यथा केवल 'दलदल' के रोहित की ही नहीं अपितु लाखों-लाखों उन लोगों की है जिनकी आशा-आकांक्षा की ज़िंदगी तो शहर में है किंतु ममता की बेड़ियां डालते माता-पिता गांव में हैं। रोहित की पीढ़ी का दृष्टिकोण भी सही है कि उसके बच्चों का भविष्य शहर में ही बन सकता है जबकि पुरानी पीढ़ी का दृष्टिकोण अपनी जगह सही है—"औरों की भी तो बहुएं हैं जो घर को घर समझती हैं...एक तुम हो कि तुम्हें घर काटता है...बच्चे भी तो आखिर तुम्हारे पीछे ही चलेंगे...इतनी बड़ी हवेली बच्चों की किलकारियों के बिना सूनी रहती है, लेकिन तुम्हें न जाने क्या भ्रम है कि तीनों में एक को भी घर नहीं छोड़ती...रोहित भी तो इसी गांव के स्कूल में पढ़कर इतना बड़ा बाबू बना है...(पृ० 50)।" वस्तुतः यह वह स्थिति है जिसमें वह प्रत्येक परिवार रह रहा है जिसकी जड़ें गांवों में अभी भी बहुत गहरी हैं। नायक रोहित को अनिश्चय में छोड़कर लेखक ने एक प्रश्न चिह्न दिया है जिसका समाधान न जाने कितने रोहितों को खोजना है। बम्बई, दिल्ली जैसे महानगरीय जीवन पर जो कहानियां हैं उनमें दो स्तर हैं। प्रथम महानगर में नौकरी की तंगी, जो रोटी और अस्तित्व का निरंतर प्रश्न है और उसी से जुड़ी सिर-छिपाने के घर की समस्या। दूसरे, बम्बई जैसे महानगर के 'फास्ट जीवन' (यह लेखक का ही शब्द है) में काम-संबंधों की उन्मुक्तता। इस प्रकार की कहानियों में 'अपने लोग' को प्रतिनिधि रूप में रखा जा सकता है जिसमें मकान और खोली की समस्या भी है तथा साथ ही वहां प्राप्त मुक्त काम-संबंधों का जायजा भी। "दो कमरों का उसका दमघोंटू फ्लैट मेरे सामने है। क्षीणकाय सावंत हर नये किरायेदार का ख्याल रखता है शायद। वह क्वार्टर का बाहर का कमरा जो मुख्य कमरे से आधा है, उसमें खुद रहेगा और अंदर वाला कमरा भाड़े पर देगा। बारह फुटिये उस कमरे में एक तरफ चार-पांच खिड़कियां एक साथ हैं। दीवारें एकदम नंगी हैं और फर्श शायद महीनों से नहीं धुला। एक कोने में दीवार पर धुएं के निशान स्टोव की याद दिलाते हैं।(पृ० 36)" ये शब्द बम्बई की जिन्दगी में सिर छिपाने लायक जगह की तंगी का प्रामाणिक चित्रण करते हैं। 'बिना पलक की मछलियां,' 'उमस,' 'रमजान मियां', 'अपने लोग', 'नर-भक्षी', 'आधा सुख' इन कहानियों में काम-संबंधों का सहज धरातल पर सांकेतिक चित्रण है। कहीं भी चटखारे लेकर सेक्स-चित्रण नहीं है। इस प्रकार ये सभी कहानियां ज़िंदगी के किसी न किसी अहम सवाल पर एक सोच जगाती हैं। हां, 'ओहदे का बोझ' अवश्य एक बहुत सतही और कमजोर कहानी बनकर रह गई है।

विजय सहगल ने अपने कथ्य के अनुरूप भाषा को भी बहुत सजग रूप से सहज रखा है। इसलिए ये कहानियां अपनी प्रस्तुति में बहुत स्वाभाविक बन पड़ी हैं। आज की कहानी-भाषा के सरलीकरण में जो सौंदर्य साधती है, विजय सहगल की ये कहानियां भाषा के उसी मुहावरे में रची गई हैं। इस प्रकार सभी दृष्टियों से 'आधा सुख' एक स्वागत योग्य कहानी-संग्रह है।

जंगल में मंगल

□ सत्येन्द्र शर्मा

'जंगल में मंगल' एक बहुप्रचलित और पुरानी कहावत है लेकिन परिस्थितियों ने देश वासियों का ध्यान अब इस ओर खींचना शुरू कर दिया है कि जंगल ही नहीं तो मंगल कहां और तब 'अमंगलहारी' भी विवश हो रहें, तो क्या आश्चर्य।

बाल-साहित्य-सृजन के क्षेत्र में चर्चित, हिमाचल के परिचित लेखक श्री सन्तराम वत्स्य की पुस्तिका 'जंगल में मंगल' वृक्षों की उत्पत्ति, विकास और वनों के महत्व तथा उपयोगिता पर रोचक शैली में प्रकाश डालती है। हिमाचल ही नहीं, अन्यत्र भी वृक्षों की अंधाधुन्ध कटान चिन्ता का विषय बनी है क्योंकि इससे पर्यावरण संतुलन के लिए ख़तरा पैदा हो गया है। यही वजह है कि राष्ट्रीय स्तर पर पर्यावरण-संरक्षण और इसके लिए वृक्षारोपण पर और अधिक गंभीरता से ध्यान केन्द्रित किया गया है।

मुद्रण में प्रयुक्त-टाइप और रेखांकनों तथा पुस्तक के रूपाकार से भले ही ऐसा लगे कि यह पुस्तक बच्चों या प्रौढ़ों या इन्हीं दोनों वर्गों के लिए हैं, लेकिन विषय वस्तु तो आज सभी के लिए ध्यान देने योग्य और उपयोगी है।

वृक्ष हमारे देश में यकायक, अचानक ही महत्वपूर्ण नहीं हो गए हैं। पुस्तक में 'प्राचीन भारत में वृक्षों की महत्ता' शीर्षक से इसी तथ्य को उद्‌घाटित किया गया है। पुस्तक के अंतिम अध्याय 'आइए, वृक्ष लगाएं' में उपायों और सावधानियों की ओर संकेत किया है। कुल मिलाकर, पुस्तक कोई 'हैण्डबुक' नहीं है, लेकिन पर्यावरण-संरक्षण हेतु वनारोपण के लिए प्रेरणा-प्रद है और एक ज्वलंत समस्या पर गम्भीरता से विचार करने के लिए निमंत्रण देती है।

खुल रहे पहाड़ (कविता संकलन) : संपादक : **अरविन्द रंजन**, प्रकाशक : दिल्ली प्रकाशन, त्रिनगर, दिल्ली-३५, मूल्य : चालीस रुपये।

'आधा सुख' (कहानी संग्रह) : **विजय सहगल**; आर्य प्रकाशन मण्डल, गांधीनगर, दिल्ली-31 मूल्य पन्द्रह रुपये।

जंगल में मंगल : सन्तराम वत्स्य; नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, 23, दरियागंज नई दिल्ली-2; मूल्य : आठ रुपये।

मूल आर्य संस्कृति और हिमाचल प्रदेश

☐ मियां गोवर्धनसिंह

प्रागैतिहासिक काल का अविच्छिन्न इतिहास आर्यों से शुरू होता है। आर्य कौन थे ? भाषाविज्ञान और सभ्यता के अनुसंधान करने वालों की धारणा है कि पुरातन काल में आर्य जाति किसी एक स्थान में बसती थी। अनेक कारणों से अपने मूल स्थान से निकलकर योरुप और एशिया में फैल गई। आर्य भाषा का प्रचार योरुप, प्राचीन फारस और भारतवर्ष में हुआ। इससे अनुमान किया जाता है कि किसी समय आर्य जाति बड़ी प्रबल, उद्योगशील और पराक्रमी थी। उसने अपने मूल स्थान से निकलकर संसार की सभ्यता पर अपनी अमिट छाप सदा के लिए जमा दी।

आर्यों के मूल-स्थान के सम्बन्ध में बहुत मतभेद हैं। कुछ उत्तरी ध्रुव के प्रदेश, कुछ मध्य एशिया, कुछ दक्षिण-पश्चिमी योरुप को उनका मूल स्थान मानते हैं। कुछ लोगों का यह भी विश्वास है कि आर्य लोगों का मूल स्थान भारत के उत्तरी प्रदेश में कहीं था। उनके मतानुसार भारत (सप्त सिन्धु) ही आर्यों का आदि देश था।[1] अपने मत की पुष्टि में इन विद्वानों ने यह तर्क रखा है कि वेदों में कहीं भी ऐसा संकेत नहीं मिलता जिससे यह सिद्ध हो कि आर्य बाहर से आए। और जो भी संकेत मिलते हैं वे इस तथ्य के द्योत्तक हैं कि वैदिक आर्य सप्त सिन्धु को ही अपना मूल देश मानते थे। वेदों में वर्णित सब नदियां भारत की हैं। ऋग्वेद में इन नदियों का क्रम पूर्व से पश्चिम की ओर इस प्रकार मिलता है: गंगा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्रि (सतलुज), परुष्णी (रावी), असिकनी (चुनाव), मरुद्बृधा (चनाव और झेलम के बीच की मरूर्वावन नामक सहायक नदी), वितस्ता (झेलम), सुषोमा (सोहन) तथा आर्जीकीया (व्यास)।[2] कुछ एक भारतीय विद्वान् हिमालय को आर्यों का देश मानते हैं। उनका कहना है कि ये लोग भारत में गंगोतरी के दुर्गम मार्ग से होते हुए आए। इसका थोड़ा बहुत वर्णन हमें पुराणों और महाभारत में भी मिलता है। महाभारत में भी लिखा है कि संसार में पवित्र हिमालय प्रसिद्ध है। इसमें एक योजन चौड़ा और पांच योजन घेरे वाला मेरू है जहां पर मनुष्य की उत्पत्ति हुई। यहीं से एरावती, वितस्ता, विशाला, देविका और कुहु आदि नदियां निकलती हैं, यहीं पर ब्राह्मण उत्पन्न हुए। इसी प्रकार अन्य संस्कृत ग्रंथों में भी आर्यों के आदि देश के बारे में अनेक कल्पनाएं की गई हैं। किन्तु आज अधिकांश लोगों के मत में आर्यों का मूल स्थान एशिया में कहीं मध्य एशिया या लघु एशिया है। सच तो यह है कि उपर्युक्त धारणाएं केवल

अनुमान पर अवलम्बित हैं। और उनमें से एक भी ऐसी नहीं जो निश्चित अथवा सर्वमान्य कही जा सके। इसलिए इस विषय पर अधिक विवेचन करने का प्रयत्न अनुपयुक्त एवं व्यर्थ-सा है। फिर भी यह मानने में कोई आपत्ति नहीं कि आर्यों का विस्तार योरुप एवं एशिया में हुआ और वैदिक आर्यों के इतिहास की प्रारम्भिक रङ्गभूमि भारत के अन्यान्य प्रान्तों में फैलाते और अपनी सभ्यता और आधिपत्य जमाते गए। कालान्तर में सारे देश में उन्हीं की विभूति फैल गई, जो आज तक जीवित और प्रगतिशील है।

कहा जाता है कि आर्य जाति जब अपने मूल-स्थान से नई भूमि की खोज में निकली तो उनकी एक शाखा तो पामीर पर्वत जिसे भारतीय पुराणों ने मेरू पर्वत कहा है, को पार करके कश्मीर घाटी की ओर मुड़ी और हिमाचल प्रदेश, गढ़वाल, कुमाऊं होती हुई पहाड़ों-पहाड़ नेपाल तक फैल गई। दूसरी शाखा ईरान, अफगानिस्तान होती हुई भारत पहुंची। तीसरी टोली आगे बढ़ती हुई योरुप तक चली गयी। यहां पर हमारा तात्पर्य आर्यों की उस शाखा से है जो ईरान, अफगानिस्तान होती हुई सिन्धु प्रदेश में आकर बस गई और और बाद में वैदिक आर्य के नाम से प्रचलित हुई। वे भारत में आक्रान्ता बनकर नहीं आए, प्रत्युत यहां शान्तिप्रिय प्रवासियों की भांति अपना पशुधन, गृहस्थी का सामान और देवताओं को साथ लेकर आए। जब वे भारत में आए तो उनका मुक़ाबला सिन्धु घाटी के सुसंस्कृत तथा सभ्य लोगों से हुआ जो सुरक्षित पुरों और दुर्गों में रहते थे। ये वे लोग थे जिनकी सभ्यता के अवशेष आज हमें मोहनजोदड़ो, हड़प्पा, रोपड़, चण्डीगढ़ और पूर्व में यमुना नदी की उपत्यका तक मिलते हैं। सिन्धु प्रदेश में पूरी तरह छा जाने के बाद आर्य लोग पंजाब (सप्तसिन्धु) की ओर बढ़े। वे छोटे-छोटे राज्य स्थापित करते हुए आगे बढ़ते गए और सप्तसिन्धु में पूरी तरह बस जाने के लिए उन्हें लगभग चार सौ वर्ष का समय लगा होगा। पंजाब में आकर जब वे शिवालिक की पहाड़ियों तथा हिमाचल की निचली घाटियों के आन्तरिक भागों की ओर बढ़ने लगे तो यहां पर उनका सामना पहले से ही बसे कोल, किन्नर-किरात और नाग जाति के लोगों से हुआ। ऋग्वेदिक ऋषि अपने जिन भयंकर प्रतिद्वन्द्वियों का उल्लेख करते हैं वे मैदान के सिन्धु-संस्कृति वाले द्रविड़ इतने नहीं थे, जितने कि यहीं पहाड़ों में रहने वाले लोग थे। वे पत्थरों के बने हुए पुरों (किला) में रहते थे। इन पुरों को तोड़ने के लिए आर्यों को लोहे के चने चबाने पड़े। आर्य अपने प्रतिद्वन्द्वियों को दास, दस्यु, यक्ष आदि कहते थे। उनके मुख्य शत्रु पर्वतवासी दास या दस्यु थे। पर्वतीय दास किन्नर-किरात और नाग थे। इनका नायक शम्बर[5] था जिसके हिमाचल की पहाड़ियों में पत्थर के बने हुए सौ दुर्ग थे। उसका राज्य हिमाचल की पहाड़ियों में रावी नदी से पूर्व की ओर कहीं गढ़वाल तक फैला हुआ था। दूसरे पर्वतीय राजे, चुमुरि, धनि, शुष्ण, अशुष, पिप थे जो शम्बर के समकालीन और सहयोगी थे। शम्बर का समकालीन एक और शक्तिशाली राजा था जो आर्य जाति से था और उसका नाम दिवोदास था। वह भरत कुल से था। उसका राज्य उस समय मैदानी भाग में रावी (परुष्णि) और सतलज-व्यास (शुतुद्रि-विपाशा) नदियों के बीच वाले भू-भाग में फैला हुआ था। शम्बर के धन एवं सम्पत्ति से भरपूर पुरों तथा विशाल राज्यों को देखकर साहसी दिवोदास कहां चुप रह सकता था। उधर दिवोदास की बढ़ती शक्ति से ईर्ष्या होकर शम्बर भी उससे लोहा लेने को तैयार रहता था। अतः दोनों में संघर्ष छिड़ गया। इनका यह युद्ध चालीस वर्ष तक होता रहा।[6] यह युद्ध मैदानी भाग में नहीं बल्कि हिमाचल की पहाड़ियों में हुआ।[7] अन्त में चालीस वर्ष के निरन्तर युद्ध के

बाद उदब्रज[8] नामक स्थान पर वीर शम्बर की मृत्यु दिवोदास के हाथों हुई। शम्बर के पुरों को ध्वस्त करके आर्य लोगों ने धन-सम्पन्न पर्वत में प्रवेश किया। वीर शम्बर के अतिरिक्त आर्यों को शुष्ण, चुमुरी और कई पहाड़ी राजाओं का भी सामना करना पड़ा। परन्तु कुशल सैन्य संगठन के कारण आर्य लोग विजयी होते हुए आगे बढ़ते गए। इस प्रकार आगे बढ़ते हुए आर्यों ने कोल, किन्नर-किरात और नागों को हिमाचल की निचली घाटिओं और तराइयों से खदेड़ कर दुर्गम पहाड़ियों की ओर जाने के लिए बाध्य किया। हिमाचल की ऊपरी पहाड़ियों तथा घाटिओं में कश्मीर (कशगिरी) की ओर से आए उन्हीं के भाई-बन्धु खश लोग आर्यों से पहले ही गढ़वाल-कुमाऊं तक फैल चुके थे। खशों का जब इन जातियों से सामना हुआ तो उन्होंने भी इन्हें दुर्गम पहाड़ियों की ओर भगा दिया जो वहीं बस गए। उन्हें या तो अपने में विलीन कर लिया या दास बना दिया गया। यहां की मूल जातियों को उत्तर की ओर भगाने वाले वैदिक आर्य थे तथा उनको अपने में विलीन करने वाले उन्हीं के भाई-बन्धु खश लोग थे।

शम्बर तथा उसके साथियों को पराजित करने के बाद आर्य हिमाचल की घाटियों में भीतर की ओर नहीं बढ़े बल्कि शिवालिक की पहाड़ियों के आंचल से होते हुए सतलुज (शुतुद्रि) को पार करके सरस्वती[9] तथा यमुना नदियों की ओर बढ़ने लगे। इस प्रकार वैदिक आर्यों के एक शक्तिशाली राजा ययाति ने सरस्वती नदी के किनारे एक बड़े राज्य की नींव डाली, जो उसके बाद उसके पुत्र पुरू के नाम से पूरू वंश से प्रसिद्ध हुआ। आर्यों द्वारा पंजाब और सरस्वती-यमुना के मैदान में अपने-अपने छोटे-बड़े राज्य स्थापित करने के बाद जो सबसे महत्वपूर्ण घटना घटी वह थी दाक्षराज्ञ युद्ध। इस युद्ध का वर्णन ऋग्वेद में मिलता है।[10] यह युद्ध भरतों के राजा दिवोदास के पुत्र सुदास और दस आर्य तथा अनार्य राजाओं के बीच हुआ था। आर्य राजाओं में अनू, द्रह्यु, तुर्वशा और पुरू प्रसिद्ध थे। पुरू का राज्य सरस्वती नदी के किनारे पर था। इस युद्ध में सभी जातियों ने भाग लिया। इस युद्ध के सम्बन्ध में एक ऐसे राजा का उल्लेख आता है जिसका राज्य-विस्तार हिमाचल के उस भाग में रहा जो अब हिमाचल प्रदेश में है[1] सुदास की सेना का नेतृत्व उसके गुरु तथा मंत्री वशिष्ठ ने किया और अन्य दस राजाओं की सेनाओं का विश्वामित्र ने। यह युद्ध रावी (परूष्णी) नदी के किनारे पर हुआ। अनू और द्रह्यु की सेनाएं जल में डूब गईं। सुदास की विजयवाहिनी सेना के सामने पुरुओं की सेनाएं परास्त हुईं। विजय के बाद सुदास यमुना तक बढ़ गया जहां उसका सामना भेद, अज, शिघ्र और यक्ष नामक अनार्य राजाओं से हुआ जिन्हें पराजित करने के बाद सुदास ऋग्वेदिक काल का एक शक्तिशाली सम्राट बन गया था।

आर्यों के विस्तार की सबसे मुख्य बात यह थी कि जब वे लोग किसी अग्रिम भाग में जाकर अपने नए उपनिवेश बसाना चाहते थे तो मार्ग-दर्शक का काम राजा नहीं अपितु वैदिक ऋषि किया करते थे। नए स्थान, नगर या देश का नाम प्रसिद्ध ऋषियों, राजाओं और कुलों के नाम पर रखते थे। नए उपनिवेशों में जाकर ये लोग अपने आश्रम स्थापित करते और वैदिक धर्म और संस्कृति का प्रचार करते थे। इसी प्रकार हिमाचल की घाटियों में प्रवेश करके जिन ऋषियों ने अपमे आश्रम स्थापित किए उनमें मुख्य थे वशिष्ठ, जमदग्नि, अगस्त्य, गौतम आदि आदि। एक जनश्रुति के अनुसार कुल्लू घाटी में मनाली के पास एक वशिष्ठ कुण्ड नामक गर्म पानी के चश्मे को वैदिक ऋषि वशिष्ठ से ही जोड़ा जाता है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि वशिष्ठ अपने अनुयाइयों तथा शिष्यों के साथ व्यास नदी के किनारे-किनारे होते हुए कुल्लू घाटी

की ओर बढ़े थे। मनु, जिनका वर्णन वैदिक ऋषियों में इक्कीस बार आया है, का आश्रम भी कुल्लू घाटी के मनोरम स्थान मनाली में ही था, जहां पर आज भी उनका प्रचीन मन्दिर स्थित है। इसी प्रकार विलासपुर को भी व्यास से जोड़ा जाता है। जमदग्नि ऋषि के नेतृत्व में ऋग्वेदिक आर्यों की एक और टोली ने सरस्वती नदी के किनारे-किनारे होते हुए हिमाचल की निचली पहाड़ियों के भीतर प्रवेश किया तथा वहां आश्रम बनाया। यहीं पर जमदग्नि ऋषि थे जिनका नाम 'चामू का डिब्बा' पड़ा।[12] यहां पर ही एक बहुत बड़ा सरोवर है जो जमदग्नि की पत्नी रेणुका से सम्बन्धित है। पास में ही जमदग्नि के पुत्र परशुराम का मन्दिर है। रेणुका सरोवर के निकट ही एक और सरोवर है जिसे परशुराम ताल कहते हैं। यहां पर एक घाटी का प्राचीन नाम रामशृङ्ग भी है। ये सभी नाम हमें ऋग्वैदिक आर्यों के यहां पर जाने और बसने का प्रमाण देते हैं। हिमाचल में बहुसंख्य ऋषियों ने तप किए और जहां वह रहे उन स्थानों को उक्त ऋषियों के आश्रम का नाम दिया गया।

जमदग्नि ऋषि के अतिरिक्त अगस्त्य और गौतम ऋषियों ने भी रेणुका के आस-पास आकर अपने-अपने आश्रम बनाए, और वहां रहना आरम्भ कर दिया।[13] बाद में अगस्त्य ऋषि गढ़वाल की ओर चले गए और वहां पर रूद्रप्रयाग के पास अपना आश्रम स्थापित किया और 'अगस्त्य मुनि' के नाम से प्रसिद्ध हुए।[14] परन्तु अगस्त्य मुनि का आश्रम चंचल मृगजल की तरह किसी एक प्रदेश में टिकाऊ न था। वस्तुत: अगस्त्य के आश्रमों की स्थिति उत्तरापथ से दक्षिण की ओर आर्य जाति के प्रसार को सूचित करती है। यह स्थान उन उपनिवेशों के सूचक है जो अपनी प्रगति के मार्ग में आर्यों ने बसाए होंगे। अत: ऋग्वैदिक काल में ही आर्य लोग शिवालिक की घाटियों को पार करके सिरमौर से निकलने वाला सरस्वती तथा आपाया[15] (मरकण्डा) नदियों के उद्‌गम तक पहुंचकर बस गए थे।

ऐसा जान पड़ता है कि एक-आध बार के अतिरिक्त वैदिक काल में वैदिक राजाओं ने हिमाचल की घाटियों में प्रवेश करने की ओर ध्यान नहीं दिया। केवल इतनी-सी घटना जरूर मिलती है कि एक बार यदु कुल की हैहय शाखा के एक साहसी राजा कार्तवीय जो इतिहास में सहस्र अर्जुन नाम से भी प्रसिद्ध है, ने अपने राज्य की सीमा बढ़ाने की लालसा से एक विशाल सेना को लेकर हिमाचल की ओर प्रस्थान किया। इस विजय यात्रा में जब वह शिवालिक की पहाड़ियों को पार करके रेणुका पहुंचे तो वहां उनका स्वागत जमदग्नि ऋषि ने किया। जमदग्नि के पास अपार गाय धन था जिसे प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में 'कामधेनु' नाम से जाना जाता है। ये गायें आर्यों का सबसे बड़ा धन था। इन गायों को देखकर सहस्र अर्जुन का मन ललचाया और उसने जमदग्नि ऋषि से इन्हें मांगा। ऋषि ने इन गायों को देने से इन्कार कर दिया। इस पर सहस्र अर्जुन ने इन गायों को बलपूर्वक ले जाने का प्रयत्न किया परन्तु स्थानीय जाति के लोगों ने विरोध किया और राजा को पराजित होना पड़ा। इस पर क्रोधित होकर राजा ने जमदग्नि के आश्रम को नष्ट किया औरगायों को लूटकर ले गया।

उसके पश्चात् सहस्र अर्जुन ने हिमाचल में ही स्थित अपना वशिष्ठ ऋषि के आश्रम पर आक्रमण किया और उसे जला डाला। इन घटनाओं का पता जब जमदग्नि के छोटे पुत्र परशुराम को लगा तो उसने स्थानीय राजाओं तथा जातियों का एक राज्य संघ बनाया और सहस्र अर्जुन पर आक्रमण करके परशुराम ने स्वयं अपने हाथों से उसका वध कर दिया। इस पाप का प्रायश्चित करने के उद्देश्य से जमदग्नि ने परशुराम को तीर्थ यात्रा पर जाने को कहा। जब

वह तीर्थयात्रा में था तो सहस्र अर्जुन के पुत्रों ने मौक़ा देखकर तप में बैठे जमदग्नि ऋषि की हत्या कर दी। इससे परशुराम का क्रोध और भी भड़क उठा और उसने सभी क्षत्रियों पर आक्रमण करने आरम्भ कर दिए। इस भय से बहुत क्षत्री पहाड़ों की ओर भाग गए।[17] बाद में इन पापों का प्रायश्चित करने के लिए वह वन में तपस्या करने गए। अन्त में इन पापों से मुक्ति पाने लिए उसने काश्यप ऋषि तथा उनके गोत्रियों को भूमि-दान किया। भविष्य में कोई गड़-बड़ होने के डर से काश्यप ने परशुराम को दान में दिए हुए भू-भाग से चले जाने को कहा। अत: परशुराम ने इन पर्वतीय घाटियों को छोड़कर पश्चिमी समुद्र तट पर जाकर नए उपनिवेश बसाए। आज भी कुल्लू के ऐतिहासिक स्थल निरमंड में यह मान्यता है कि यह गांव परशुराम ने ब्राह्मणों को दिया था। वहां पर परशुराम का मन्दिर भी है। निरमंड ब्राह्मणों का गांव है और उनका गोत्र भी काश्यप है।

ऋग्वेदिक आर्यों ने हिमाचल की ऊपरी पहाड़ियों में प्रवेश नहीं किया। उनकी गति-विधियां मैदान के साथ लगती हुई शिवालिका की घाटियों तक ही सीमित रहीं। ऐसा भी कोई प्रमाण नही मिलता जिससे यह सिद्ध हो सके कि हिमाचल के ऊपरी भागों में प्रवेश करते समय आर्यों को वहां पर बसी जातियों से लोहा लेना पड़ा हो। उनका संघर्ष हिमाचल की निचली पहाड़ियों में बसे कोल, किन्नर-किरात और नागों से ज़रूर हुआ। वैदिक साहित्य में आर्यों का हिमालय में बसने सम्बन्धी कोई भी उल्लेख नहीं। इसके विपरीत यहां खशों की ही प्रधानता दीख पड़ती है।

ऋग्वैदिक आर्यों को हिमाचल का ज्ञान न हो, ऐसी बात नहीं। ऋग्वेद में वर्णित नदियां—गंगा-यमुना से लेकर चिनाब-झेलम तक की सभी नदियां हिमालय के हिमानी शिखरों से निकलकर इस प्रदेश में बहती हुई आगे बढ़ती हैं। सरस्वती नदी का वर्णन ऋग्वेद में बार-बार आया है। इस नदी के साथ-साथ ही घग्घर (दृष्द्रवती) और मारकण्डा (आपया) का भी वर्णन आता है। ये नदियां हिमाचल की पहाड़ियों से निकलने वाली नदियां थी। आज के घग्घर की तरह उसकी दोनों शाखायें मारकण्डा और सरस्वती भी पहाड़ियों से निकलने वाली नदियां थी। जिस क्रम से तीनों नदियों का नाम सतलुज से पहले आए हैं, उनसे जान पड़ता है कि मारकण्डा का नाम आपया और घग्घर का नाम दृष्द्रवती है। सरस्वती नदी तो सम्भवत: भौगोलिक परिवर्तनों के कारण से लोप हो गई, परन्तु मारकण्डा नदी आज भी सिर-मौर की पहाड़ियों से बड़ावन नामक स्थान से निकलकर काला आम्ब के पास आम्बाला जिला में प्रवेश करती है।

ऋग्वेद में हिमालय को हिमवन्त[21] कहा गया है। ऋग्वेद की रचना सतलुज (शुतुद्रि) और सरस्वती नदी के बीच वाले प्रदेश में हुई। इस भू-भाग के ठीक उत्तर में आज हिमाचल प्रदेश का पर्वतीय भाग आता है। इसलिए ऋग्वैदिक आर्यों का हिमवन्त हिमाचल का यही पर्वतीय भाग रहा होगा। इसे आर्य लोग देवताओं का स्थान मानते थे। इसका उल्लेख हमें एक पौराणिक कथा में इस प्रकार मिलता है कि जब वशिष्ठ सत्यहाव्य ने अत्यर्की जन्मतपि को राजसय की शिक्षा दी तो उसने सारी पृथ्वी पर विजय पाई।[22] इस खुशी में वशिष्ठ ने जन्म-तपि से दक्षिणा मांगी। जन्मतपि ने क्रोधित होकर कहा कि जब वह उत्तर कुरू अर्थात् हिमालय पर विजय पाएगा तब वह वशिष्ठ को हिमालय पर राज्य देगा। वशिष्ठ ने उत्तर दिया कि वह भूमि देव क्षेत्र है उसे कोई नहीं जीत सकता। और हिमालय पर वक्र दृष्टि रखने वाले जन्म-

तपि का स्वयं वध कर डाला।

ऋग्वैदिक आर्यों का सबसे प्रिय पान सोमरस था जो उनके देवताओं को भी मस्त करता था। इसलिए असित देवल गदगद होकर सोम का गुणगान करते थे। इसका उस समय इतना अधिक उपयोग होता था कि वह दुर्लभ नहीं हो सकता था। ऋग्वेद में एक बार सोम को मौजवत[23] भी कहा गया है, जो उत्तर कालीन संदर्भों के अनुसार "मुञ्जवत् पर्वत पर उत्पन्न इस अर्थ का बोधक है। सोम को अनेक बार 'गिरिष्ठ' भी कहा गया है। पर्वतों को भी सोमपृष्ठ संज्ञा मिली है,[24] जिनका प्रयोग संभवत: याज्ञिक प्रतीकवाद के प्रभाव से सोम-पेषक पाषाण (आद्रि) के लिए भी हुआ है। उद्धत पदों से लगता है कि सोमलता का स्थान पार्थिव पर्वत पर रहा होगा।[25] इसलिए ऋग्वैदिक ऋषि गौतम के कहने के अनुसार सोमलता ऊँचे पर्वतों पर होती थी। अत: सोम एक बूटी से तैयार किया जाता था। यह बूटी हिमालय में पाई जाती थी। ऋग्वैदिक काल में आर्यों का विस्तार सिन्धु नदी से लेकर सरस्वती नदी तक था। सतलुज, सरस्वती और उसकी सहायक नदियां घग्घर और मारकण्डा के किनारे उनकी बड़ी-बड़ी बस्तियां थीं। आर्य लोग सोम रस बनाने वाली बूटी को हिमालय के पर्वतीय भाग से ही मंगवाते होंगे क्योंकि उस काल में काश्मीर उनके लिए बहुत दूर था और नेपाल का प्रश्न ही नहीं था। सोमरस बूटी का व्यापार बहुत बड़े पैमाने पर था क्योंकि इसका सभी सेवन करते थे। सम्भवत: इस बूटी का व्यापार आर्यों के साथ हिमाचल में बसने वाली जातियों के लोग करते थे।[26] ऐसा प्रतीत होता है कि इतनी भारी संख्या में इन बूटियों को ये पर्वतवासी अपनी भेड़ बकरियों की पीठ पर लादकर मैदानी भाग में विक्रय के लिए ले जाते होंगे। आज भी हिमाचल के बहुत ही ऊँचे पहाड़ों में विशेषकर पांगी, लाहुल-स्पीति और किन्नौर में वहाँ के निवासी अपना सामान इन भेड़-बकरियों पर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाते हैं।

ऋग्वेद में एक सुरा नामक रस पान का भी उल्लेख है।[27] सोम भक्त आय सुरा से कोई वास्ता नहीं रखते थे। उसे हीन दृष्टि से देखते थे। वशिष्ठ भी सुरा को पसन्द नहीं करते थे। परन्तु कुछ लोग सुरा के प्रेमी अवश्य थे। आज भी हिमाचल के भीतरी भागों में शराब को 'सूर' या 'सुरा' कहते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि 'सुरा' वैदिक आर्यों ने हिमाचल के आदि निवासियों से ग्रहण की होगी।

वेदों के बाद लिखे गए संस्कृत ग्रंथों में उत्तर कुरू अर्थात हिमालय के प्रदेशों के नाम इस प्रकार मिलते हैं: उत्तर कुरु, उत्तर भद्र, वाहलिक, महावरिष और मुजवन्त। ये सारे राज्य कश्मीर से पूर्व की ओर हिमालय में थे। कई लोगों का विचार है कि वर्तमान काशमीर ही किसी समय उत्तर कुरू कहलाता था। कई विद्वानों के विचार से कुरूक्षेत्र का उत्तरवती प्रदेश ही उत्तर कुरू था। कुरूक्षेत्र के ठीक उत्तर में हिमाचल की पहाड़ियां तिब्बत तक बढ़ती चली गई हैं। सम्भव है कि उत्तर कुरू हिमालय का भू-भाग रहा हो। भद्रदेश[29] आज के स्यालकोट से उत्तर की ओर का भू-भाग माना जाता है। बौद्ध काल से यह देश चनाव और रावी नदियों के बीच वाले भाग में रहा था। मुजवन्त[30] का वर्णन ऋग्वेद में मिलता है। यजुर्वेद में इन्हें दूर देश का रहने वाला बताया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह हिमाचल में बसने वाली किसी एक जाति का भी नाम रहा होगा।

उत्तर कौशल के दो राजाओं ने हिमाचल की खोज की। उनमें से एक सगर था जिसने ३२ वर्ष तक हिमालय के आंचल से गंगा को मैदान में उतारने का प्रयास किया। परन्तु भागीरथ

ही अपने पिता का काम पूरा कर सका और गंगा के उद्गम को ढूंढ़ने में सफल हुआ।[31] इसीलिए भागीरथ के नाम पर गंगा को भगीरथी भी कहते हैं।[32] लक्ष्मण के अंगद और चन्द्रकेतु नामक दो पुत्रों ने हिमालय के आंचल में अपने लिए राज्य स्थापित किए। अंगद द्वारा स्थापित राज्य का नाम कुरूपथ था और चन्द्रकेतु द्वारा स्थापित राज्य का नाम माला कहलाता था।[33] ये राज्य कहीं कुमाऊँ गढ़वाल के निकट रहे होंगे। ऐसा जान पड़ता है कि रामायण काल में ही आर्यों ने हिमाचल की भीतरी घाटियों में प्रवेश नहीं किया। सम्भवत: वे दक्षिण की ओर ही बढ़ते चले गए। यही नहीं महाभारत काल में भी आर्यों ने हिमाचल की घाटियों में आक्रांता बनकर प्रवेश करने का प्रयत्न नहीं किया। किसी टोली ने ऋषियों के नेतृत्व में नीचे की पहाड़ियों में प्रवेश किया भी हो तो केवल शांतिप्रिय आवासी बनकर ही किया है। यद्यपि महाभारत में खश सरीखी जातियों द्वारा हिमाचल के इस पर्वतीय भाग में जनपदों के स्थापित करने का वर्णन अवश्य मिलता है। फिर भी पांडवों से सम्बन्धित इस प्रदेश में बहुत-सी किम्वदंतियां प्रचलित हैं। महाराजा पाण्डु ने कुन्ती और माद्री—जो मद्र देश से थीं, सहित पांडुकेश्वर में गन्धमादन क्षेत्रान्तर्गत तपस्या की थी और यहीं पाँचों पाण्डवों का जन्म और नामकरण संस्कार हुआ था। यहीं पाण्डु की मृत्यु तथा अपने मृतपति के साथ माद्री सती हुई थी।[34] महाभारत में स्पष्ट रूप में लिखा है कि पाण्डवों ने अपने वनवास के दिन इस प्रदेश में ही बिताए। भीमसेन के वनवास काल में अपने भाइयों एवं माता कुन्ती की सलाह से हिडिम्बा नामक असुर महिला से यहां विवाह किया था। जनश्रुति के अनुसार कुल्लू घाटी का हिडिम्बा मन्दिर इसी महिला के नाम से है और यहीं पर उनका विवाह हुआ था।

महाभारत में हिमालय की गिरिमालाओं को उपगिरि, बहगिरि तथा अन्तर्गिरि नामक तीन भागों में बांटा गया है। अर्जुन ने अपनी दिग्विजय यात्रा में इन तीनों गिरियों पर विजय पाई थी। इन्हीं गिरिमालाओं में प्रागैतिहासिक किन्नर[35] लोग भी अर्जुन को मिले जिनका वर्णन महाभारतकार ने किया है। महाभारत के अनुसार उस समय हिमाचल के इस भू-भाग में अनेकों जनपद थे। अंवष्ट चनाव नदी के निचले भाग में बसते थे। महाभारत में वे कौरवों की ओर से लड़े थे। रावी, ब्यास और सतलुज इन तीन नदियों के बीच का प्रदेश त्रिगर्त कहलाता था। इसे जालंधरायणा भी कहते थे। त्रिगर्त को आज कांगड़ा नाम से जाना जाता है। महाभारत युद्ध में त्रिगर्त का संस्थापक योद्धा सुशर्मा दुर्योधन की ओर से लड़ा था। अर्जुन की उत्तर-पश्चिमी दिग्विजय के सिलसिले में महाभारतकार ने त्रिगर्त[36] और कुलूत (कुल्लू) पहाड़ियों में बसे हुए गणों और रजवाड़ों का उल्लेख किया है। सभापर्व में ही मुकुट (सुकेत) और कुलिन्दों का भी उल्लेख किया गया है। सतलुज के दक्षिण तथा तोंस (तमसा)[37] नदी तक का प्रदेश प्राचीन काल में कुलिन्द कहलाता था। इसमें हिमाचल प्रदेश के आज के महासू और सिरमौर जिले के भाग आते हैं। सभापर्व के अनुसार कालकूट[38] भी कुलिन्द प्रदेश में था जो कहीं तौंस और यमुना नदियों के इर्द-गिर्द ही पड़ता था। महाभारत से यह भी पता चलता है कि युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में भेंट लेकर आने वाले लोगों में खश, एकासन, हाई, पदर, दीर्घवेणु, पारद, कुलिन्द तंगणा और परतंगणा नामक पहाड़ी देशों के राज लोग थे[39] परन्तु जब महाभारत का युद्ध हुआ तो इनमें बहुत से कौरवों की ओर लड़े थे।[40] अन्त में पाण्डव राजपाट परीक्षित को सौंपकर और वैराग्य लेकर पाण्डुकेश्वर[41] में आकर तप करने लगे। महाभारत के इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि हिमाचल के लोग भारतीय राजनीति में

शुरू से ही भाग लेते आ रहे हैं।

इस प्रकार वैदिक आर्यों तथा उत्तर वैदिक आर्यों की गतिविधियां बौद्ध काल तक शिवालिक तथा हिमाचल की निचली घाटियों तक ही सीमित रही। यह बात नहीं कि वे लोग हिमाचल में आए ही नहीं। आए तो अवश्य परन्तु बहुत बाद में और वह भी विजेता बनकर नहीं, अपितु ऋषि, मुनियों के नेतृत्व में शान्तिप्रिय लोगों के रूप में अपना पशुधन, गृहस्थी का सामान और अपने देवताओं को साथ लेकर जब वे यहां आये तो उनका यहां पर पहले से ही बसने वाली जातियों से आसानी से मेल-जोल हो गया क्योंकि खश लोग जो उनके ही भाई-बन्धु थे उनमें मिल गए और उनके रीति रिवाज, धर्म, उनकी सभ्यता और संस्कृति को उन्होंने अपना लिया।

---

1. पटेल, परमानन्द उत्तर ध्रुव से गंगा, दिल्ली, राजकमल, 1960, पृ० 1
2. इमं मे गंगे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोम सचता परूण्या।
   असिक्न्या मरूद्वृधे वितस्तयार्जीकीय शृणुह्य सुषोमया॥ ऋ० 10-75-5
3. हिमालयाभिधानोऽयं ख्यातो लोकेषु पावनः
   अर्धयोजनविस्तारः पंचयोजनमायः।
   परिमण्डलयोर्मध्ये मेरूरूत्तम पर्वतः।
   ततः सर्वाः समुत्पन्ना वृत्तयो द्विजसत्तम॥
   ऐरावती वितस्ता च विशाला देविका कुहू।
   प्रसुतिर्यत्र विप्राणां श्रूयते भरतर्षभ॥
4. वायु पुराण, अध्याय 34, श्लोक 25-33
5. भिनत्पुरा नवतिमिन्द्र पूरव दिवोदासय महि दाशुषे नृतो वज्रेण दाशुषे नृतो।
   अतिथिग्वाय शम्बरं गिरेरुग्रो अवाभरत।
   महो धनानि दयमान ओजजा विश्वा धनान्योजसा॥ ऋ० 1. 130. 7
6. यः शम्बर पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरधन्वविन्दत।
   ओजायमानं यों अहि जघान दानुं शयानं सा जसान इन्द्रः॥ ऋ० 11. 2. 12
7. त्वं तदुकथमिन्द्र वर्हणकः प्रयच्छता सहस्त्रा शूर दर्षि।
   अव गिरेर्दास शम्बरं हन् प्रावो दिवोदासं चित्राभिरूति॥ ऋ० 5. 6. 26
8. दिवे दिवे सदृशीरन्यमर्द्धं कृष्णा असेद्धप सद्मनो जाः।
   अहन्दासा वृषभोव वस्नयन्तोदव्रजे वर्जिना शम्बर च॥ 21. 6. 47
9. सरस्वती पुण्यतमा नदीनां शुचियती गिरिम्य आसमुद्रातु।
   ईजानाय पुण्यतमाय राज्ञे घृतपयो दुदुहुर्नाहुषाय॥ महाभारत 6. 62
   तत्र यज्ञे ययातेश्च महाराज सरस्वती।
   सर्पिः पयश्च सुस्राव नाहुषस्य महात्मन॥ महाभारत 9. 42. 33
10. ऋग्वेद-6. 33. 2. 5, 83. 8
11. काश्यप, (डा०) पद्मचन्द "हिमाचल की लोक संस्कृति।"
    (पंचजगत, अक्तूबर, 1962) पृ० 17
12. Bhargava, P. L, India in the Vedic Age. Lucknow, 1956. p. 71
13. उपेन्द्रसिंह, "रेणुका—भव्य स्थान," (हिमप्रस्थ, मई, 1955) पृ० 4
14 (1) विश्वभारती भाग—2... पृ० 1165
   (2) सिंह, भजनसिंह, आर्यों का आदि निवास : मध्य हिमालय, इलाहाबाद, 1968. पृ० 132

15. नि त्वा दधे वर आपृथिव्य इळायास्पदे सुदिनत्वे अह्ना।
दृषद्वत्यां मानुष आपयायां सरस्वत्यां खेदग्ने दिदीहि ॥ ऋ० 4. 4. 23

16. Majumdar, R. C. History and culture of the people of India, Volume I: Vedic Age, London, Allen 1952 p. 282.

17. वही पृ० 281.

18. हिमवतः प्रस्रवन्ति सिन्धौ समह संगमः।
आपोह मह्यं तद्र देवीर्ददन् हृदद्योत भेषजम ॥ अथर्व 6. 24. 1
अर्थ—"हिमालय से निकलने तथा समुद्र में मिलने वाली सरितायें हमें दिव्य औषधियां प्रदान करें।"

19. सांकृत्यायन, राहुल. ऋग्वेदिक आर्य. इलाहाबाद, किताब महल, 1957, पृ० 9

20. Punjab, Govt. Sirmur State Gazetteer. Part A Lahore, Press, 1907, P. 3

21. (1) ऋग्वेद, 10 121, 4
(2) गिरयस्ते पर्वत हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु। अथर्व 12. 1. 11
यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्र रसया सहाहुः।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ऋग्वेद 10. 121. 4
"ये हिमवन्त पर्वत जिसकी महिमा गाते हैं जिसके महत्व की घोषणा पृथ्वी सहित समुद्र कर रहा है और जिसके सामर्थ्य की अभिव्यक्ति, ये प्रदिशायें, (उसकी) बाहुबल होकर रही हैं, उस देव की हम हविष्य से आराधना करते हैं।"

22. (क) Seletore, Bhaskar Anand. Ancient Indian Political Thought and Institution. Bombay, Asia Pub. House, 1963 p, 100
(ख) एत्रिय ब्राह्मण, 7. 23

23. सोमस्येव मौजवतस्य भक्षः। ऋ० 10. 3. 1
क्षरेन्तः पर्वतावृधः। ऋ० 9. 46. 1

24. ये पर्वताः सोमपृष्ठाः। अथ० 3. 21. 10
दिवोमानं नोत्स दन्त्सोमपृष्ठ सो अद्रयः। ऋ० 9. 63. 2

25. पर्जन्य पिता/महिषस्य पर्णिनो नाभा पृथिव्या
गिरिषु क्षयं दधे। ऋ० 9. 82. 3

26, Ragazin, Zenai de A. Vedic India. London, Fisher Unwin, 1915. p. 170-71

27. (1) हृत्सु पीतासो युध्यन्ते दर्मदासो न सुरायां।
ऊधर्न नाम्ना जरन्ते॥ 12॥ 8. 2
(2) नसः स्वोदक्षो वरुणा ध्रुतिः सा सुरा मर्युविमीदकों अचित्तिः
अस्ति ज्यायान् कनीयस उनारे स्वप्नशूचनेदनृतस्य प्रयोता ॥ 6. 7. 86

28. "मांइयों री आओ कोठड़ी दूसुरा रो बास।" (बराड़ी बोली में)

29. Panikkar, K.M. Himalaya in India life, Bombay, 1963. p. 4

30. Majumdar, R. C. History and Culture of Indian people, Vol 1, The Vedic Age. London, 1952 p. 258

31. भगवद्दत्त, प० भारतवर्ष का वृहद् इतिहास, भाग 2, दिल्ली, इतिहास, सं० 2017 पृ० 106-109

32. गंगा त्रिपथगा नाम दिव्या भागीरथीति च ।
पितामहानां सवपां त्वमेव मनुजाधिप ।। 6 ।।
व० रा० चतुश्चत्वारिशः सर्गः

33. पटेल, परमानन्द, उत्तर ध्रुव से गंगा, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, 1960, पृ० 36

34. (क) सिंह, भजनसिंह, आर्यों का आदि निवासः मध्य हिमालय. इलाहाबाद, 1968. पृ० 147
(ख) प्रेमी, विश्वम्भर, हिमालय में भारतीय संस्कृति, कानपुर, चैतन्य, 1965. पृ० 121-22

35. (1) ततः किंपुरुषावासं सिद्धचारणसेवितम् ।
ददृशुर्हृष्टरोमाणः पर्वतः गन्धमादनम् ।।
विद्याधरानुचरितं किन्नरीभिस्तथैव च । वनपर्व 158. 38
(2) किन्नरैरप्सरोभिश्च निषेवितशिलातलम् ।
दिग्वारण विषाणाग्रैः समन्ताद्धृष्टपादपम् ।। 10 ।। वनपर्व, अ० 108

36. महाभारत, सभापर्व । 27. 5. 16

37. स मुहूर्तं गते तस्मिन्देवलोकं मुनिस्तदा ।
जगाम तमसातीरं जाह्नव्यास्त्वविदूरतः ।। 3 ।।
व. रामायण. द्वितीय सर्गः

38. अग्रवाल, वासुदेवशरण, पाणिनि कालीन भारतवर्ष ।
काशी सं० 2012. पृ० 99

39. मेरू मन्दरयोर्मध्ये शैलोदामभितों नदीम ।
एते कीचकवेणूनां छायां रम्यामुपासते ।। 2 ।।
खसा एकसनाह्यर्हा, प्रदश दीर्घवणवः ।
परदारच कुलिन्दाश्च लगणाः परतंगणः ।। 3 ।।
तद्वै पिपीलिक नाम उद्यतं मत्यिपीलिकैः ।
जातरूपं द्रोणमये महार्ष पुंजशोनृपाः ।। 4 ।।
कृष्णान् ललामांश्चरान् शुल्काश्चान्या-शशिप्रमान ।
हिमवतः पुष्पज चैव स्वादु क्षौद्रं तथा बहु ।। 5 ।।
उत्तरेभ्य कुरूभ्यश्चाप्य पोढ़ माल्यबुभि ।
उत्तरादपि कैलासादोषत्यी सुमहायलाः ।। 6 ।।
पार्वतीय बलि चान्यमाहृत्य प्रणतास्थिताः ।
अजातशत्रोर्नृपतेर्द्वारि विष्टन्ति वारिताः ।। 7 ।।

40. अयोहस्ता शूलहस्ता दरदास्तग्डण खशाः ।
लम्पकाश्च कुलिन्दाश्च चिक्षिपुस्याश्य सात्यकि ।। महाभारत, द्रोणपर्व अध्याय 122-43

41. Walton, H. G. British Garhwal : A Gazetteer, Allahabad, Suptd. Govt. Press, 1910. p. 193.
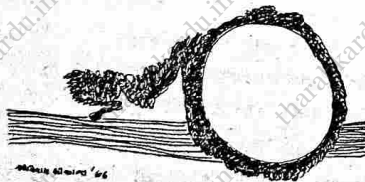
रामायण में हिमालय तथा मनुष्येतर जातियां

□ डा० सतीश कुमार शर्मा

रामायण में हिमालय का एक विशाल पर्वत के रूप में वर्णन मिलता है। यहां इसका मानवीकरण भी प्राप्त होता है। यह पर्वत अनेक जल प्रपातों, कन्दराओं, शिलाओं तथा पाषणों से युक्त कहा गया है[1]। यह मेघ की आकृति के समान श्वेत एवं सौम्य है तथा तपस्वियों को शरण प्रदान करता है। इसका कार्य युद्ध करना नहीं है[2]। इस पर्वत के निकट विश्वामित्र ऋषि का आश्रम था। विश्वामित्र की बहिन सत्यवती का विवाह ऋचीक ऋषि से हुआ था। पति की मृत्यु के पश्चात् सत्यवती सशरीर स्वर्ग को चली गई। इसके पश्चात् वह कौशिकी नदी में परिणत हो गई। यह नदी हिमालय से निकलती है। भगिनी के स्नेहवश विश्वामित्र इस नदी के तट पर रहते थे[3]। हिमालय पर्वत की पत्नी का नाम मेना कहा गया है जो मेरु-पर्वत की पुत्री है[4]। मेना से हिमालय की दो कन्याएं उमा तथा गंगा उत्पन्न हुईं[5]। त्रिपथगा गंगा को देवों ने कार्य सिद्ध के लिए मांग लिया[6]। उमा ने अतिउग्र तप किया। हिमालय ने पुत्री उमा रूद्र को अर्पित कर दी[7]। इस प्रकार हिमालय शंकर के श्वसुर हैं[8]।

देवताओं के अनुरोध पर हिमालय की ज्येष्ठ पुत्री स्वर्ग को चली गई। तीनों लोकों में बहने के कारण इसे त्रिपथगा कहा गया है। पितरों के तर्पण के लिए इसे स्वर्ग से पृथ्वी पर लाने के लिए भगीरथ ने घोर तप किया। इसके पश्चात् ये भगीरथ की कार्य सिद्धि के लिए रसातल गई, वहां सगर के पुत्रों का उद्धार किया[9]।

एक बार दुन्दुभि नामक दैत्य ने गर्वित होकर समुद्र से युद्ध करने की इच्छा प्रकट की। समुद्र ने उसे हिमालय से युद्ध करने का परामर्श दिया। जब दुन्दुभि हिमालय पर पहुंचा तो हिमालय ने स्वयं को युद्धकर्म में असमर्थ बतलाया और बाली से युद्ध करने को कहा जहां दुन्दुभि की मृत्यु हो गई।[10]

हिमालय की ऊंचाई के विषय में भी विवरण रामायण में प्राप्त होता है। हिमालय और विंध्याचल पर्वत इतने ऊंचे हैं कि दोनों एक दूसरे को देख सकते हैं।[11] कुमार कार्तिकेय के जन्म के पश्चात् रुद्र और उमा यहां तप करते रहे।[12] इसके अतिरिक्त यहां गौतम तथा विश्वामित्र के तप करने का उल्लेख मिलता है।[13] हिमालय और विंध्य के मध्य का भाग यज्ञकर्म के लिए श्रेष्ठ कहा गया है।[14] हिमालय पर्वत बड़े-बड़े वृक्षों से परिपूर्ण है। प्राचीन काल में यहां

माहेश्वर यज्ञ सम्पन्न हुआ था।[15] यहां अन्न के गिरने से अमृत सदृश स्वाद वाले मूल व फल उत्पन्न हुए। इन दिव्य फलों का सेवन करने से प्राणी एक मास तक तृप्त रहता है। इस प्रकार की वनस्पतियों का सेवन वानर करते थे। इस स्थान से गृहीत सुगन्धित पुष्पों से वानरों ने सुग्रीव को प्रसन्न किया था।[16]

वानर : हिमालय पर्वत पर फल-मूलों का सेवन करने वाले असंख्य वानर रहते थे जो सुग्रीव के बुलाने पर उपस्थित हुए और श्री रामचन्द्र के साथ चलने को तैयार हुए।

किन्नर : एक आख्यान के अनुसार कर्दम नामक प्रजापति का पुत्र इल अपने अनेक सहचरों के साथ मृगया के लिए उस वन में गया जहां कुमार कार्तिकेय की उत्पत्ति हुई थी। यह शंकर तथा उमा का विहार स्थल था। वहां जो भी जाता वह स्त्री रूप में परिणत हो जाता था। यहां राजा इल भी अपने अनुचरों सहित स्त्री रूप में परिवर्तित हो गया। विलाप करने पर उमा ने एक मास तक पुरुष तथा एक मास तक स्त्री रहने का वर दिया। कालान्तर में यह माहेश्वर याग करने पर पुनः पुरुषत्व को प्राप्त हुआ था। इससे पूर्व उसने पुरूरवा नामक पुत्र को उत्पन्न किया। एक बार सोमपुत्र बुध ने स्त्री रूप को प्राप्त त्रैलोक्य सुन्दरी इला को देखा तो उसके सम्पूर्ण वृतान्त जानकर उनकी अनुचरियों को किन्नरियां होकर रहने का उपदेश दिया। वे असंख्य स्त्रियां किंपुरुषों की पत्नियां बनकर रहने लगीं।[17] किन्नर एक गौण जाति थी[18] जो शृंगारिक गीतों और क्रीड़ाओं में मस्त रहती थी। इनका वास पर्वतों के निकट माना गया है। इनकी उपस्थिति हिमवान्, चित्रकूट, द्रोण, महेन्द्र तथा अरिष्ट पर्वत पर वर्णित है।[19] ये अपनी प्रेमिकाओं सहित विहार करते हुए रागयुक्त गान करते थे।[20] किन्नरी अपने प्रेमी के वियोग पर पत्नी के समान विलाप करती थी।[21] ये स्वभाव से कातर हुआ करते थे।[22] इनके खड्ग वृक्षों पर थे।[23]

विद्याधर : ये नाम के अनुरूप महाविद्यायों के प्रेमी होते थे।[23] हाप्किंस के अनुसार महाविद्या का अर्थ यौगिक क्रिया से अपने शरीर को संकुचित करना है।[25] यद्यपि ये स्वभाव से वायु में विचरण करने वाले प्राणी हैं तथापि पर्वतों पर अपनी प्रेमिकाओं सहित विचरण करते हुए वर्णित किए गए हैं।[26] राम ने वन में विचरण करते हुए सीता को इनके विहार स्थल, वृक्षों से लटके हुए खड्ग, विद्यार्थियों के उत्तम वस्त्र तथा अनेक मनोरम स्थल दिखाए।[27] विद्याधारियां रूप में सुन्दर होती थीं।[28] ये स्वभाव से कातर होते थे। ये कोई भी विचित्र दृश्य देखकर घबरा जाते थे।[29]

नाग : ये देवों के समान हैं। सुरसा इनकी माता है।[30] पाताल की एक नगरी जिसका नाम भोगवती था नागराज वासुकि की राजधानी थी।[31] यह नगरी तीक्ष्ण दांतों वाले विषैले सर्पों से रक्षित होने के कारण दुर्जेय थी।[32] इनकी नगरी में विस्तृत सड़कें थीं।[33] यहां तक्षक, शंख, जटी तथा अन्य मुख्य नाग थे।[34] रावण ने इन्हें पराजित करके तक्षक की पत्नी सुन्दरी पर अधिकार कर लिया था।[35] इनका मुख्य शत्रु सुपर्ण गरुड़ है।[36] जिसकी उपस्थिति इन्हें सह्य नहीं है। इस प्रकरण से यह धारणा पुष्ट होती है जिसके अनुसार यह माना जाता है कि नाग इच्छानुसार मनुष्य अथवा सर्प के रूप में रह सकते थे। अप्सराओं के समान नागकन्याएं सुन्दर चन्द्रमा के समान मुख तथा नितम्ब वाली कही गई हैं।[37] ये कन्याएं पुलस्त्य नामक मुनि की तपस्या में विघ्न डालती थीं।[38]

यक्ष : यक्षों का मांसभक्षी, राक्षसों तथा पिशाचों के साथ उल्लेख है। ये रात्रि में भ्रमण

करते हैं।[39] उत्तर-काण्ड के अनुसार ये प्रजापति की सन्तान हैं जो यक्षण कर्म के कारण यक्ष कहलाए।[40] यक्षों के स्वामी कुबेर रावण से हारने पर लंका का राज्य त्याग करके कैलाश पर्वत पर तप करने लगे। यहां वे गुह्यों और यक्षों के साथ निवास करते हैं।[41] ये अन्य पर्वतों पर भी रहते थे।[42] ये बलवान् और युद्धशाली थे।[43] एक स्थल पर यक्षिणी को अल्पवीर्ण कहा गया है।[44] बाल-काण्ड में ताटका नामक सहस्रनागतुल्य बलवती यक्षिणी का वर्णन है जो सुन्द की पत्नी है और प्रजा को त्रस्त कर रही है[45] जिसका वध श्री रामचन्द्र ने किया था।[46]

राक्षस : ये सर्वाधिक बलशाली प्राणी हैं। इनके विषय में सर्वाधिक वर्णन मिलता है। ये प्रजा को सबसे अधिक त्रस्त करते थे। इन विशालकाय प्राणियों से देवता स्वयं भी डरते थे। ये मांसभक्षी, नरभक्षी तथा आकाश मार्ग से भी गमन कर सकते थे। ये मानुष स्त्रियों को बल-पूर्वक उठाकर ले जाते थे। ये भी प्रजापति की संतान हैं। रक्षण कर्म के कारण राक्षस कहलाए।[47]

गुह्यक : यह वर्ग यक्षों से सम्बद्ध है। ये भी कुबेर के सेवक हैं जो कैलाश तथा अन्य पर्वतों पर रहते थे।[48]

अप्सराएं : यह स्त्री जाति है। जिस पर देव, मनुष्य गंधर्व और राक्षसादि आसक्त होते पाए गए हैं।[49] रामायण में एक आख्यान के अनुसार अप्सराएं समुद्र के मन्थन के समय उत्पन्न हुई।[50] 'अप्' के रस से उत्पन्न होने के कारण इन्हें अप्सरस् कहते हैं।[51] ये प्रसन्नता के अवसर पर नृत्य करती हैं। अप्रसन्नता के अवसर पर इनमें हाहाकार मच जाता है।[52] यद्यपि इनके क्रीड़ा-स्थल सरोवर हैं।[53] ये कभी-कभी पर्वतों और उपवनों में क्रीड़ा करती देखी गई हैं।[54] ये अप्सराएं ऋषियों के तप में विघ्न डालती थीं।[55] विश्वामित्र मेनका नामक अप्सरा पर आसक्त हुए।[56] वे मेनका के साथ दस वर्षों तक रहे।

गन्धर्व : यह पुरुष जाति है। ये अप्सराओं के प्रेमी हैं। ये भी अप्सराओं के समान शुभ अवसरों पर गायन करते हैं।[57] इनके क्रीड़ा-स्थल भी अप्सराओं के समान हैं।

इसके अतिरिक्त चारण सिद्ध[58] आदि जातियों का उल्लेख भी है। जिनके विषय में अधिक वर्णन नहीं है।

[राजकीय उच्च विद्यालय कोटखाई (छात्र)
जिला शिमला (हि० प्र०)]

---

1. रा० 4-11-13 महाप्रस्रवणोपेतो बहुकन्दर-निर्झरः।
2. तदेव 4-11-16 ततः श्वेताम्बुदाकारः सौम्यः प्रीतिकराकृतिः।
   4-11-17 रणकर्मस्वकुशलस्पस्विशरणो ह्यहम्।
3. तदेव 1-34-7-11
4. तदेव 1-35-15 या मेरुदुहिता राम तयोर्माता सुमध्यमा।
   नाम्ना मेना मनोज्ञा वे पत्नी हिमवतः प्रिया॥
5. तदेव 1-35-16 तस्यां गंगेयमभवज्ज्येष्ठा हिमवतः सुता।
   उमा नाम द्वितीयाभूत्कन्या तस्यैव राघव॥
6. तदेव 1-35-17 अथ ज्येष्ठां सुरा सर्वेदेवकार्यचिकीर्षया।
   शैलेन्द्रं वरयामासुर्गंगां त्रिपथगां नदीम्।
7. तदेव 1-35-21 उग्रेण तपसायुक्तां ददो शैलवरसुताम्।
   रूद्रयाप्रतिरूपाय उमां लोक नमस्कृताम्॥

8. तदेव 1-39-4, 4-11-12 शंकरश्वसुरो नाम्ना हिमवांनिति विश्रुतः ।
9. रा० 1-43 10. तदेव 4-11
11. तदेव 1-39-4 हिमवानिति विश्रुतः विंध्यपर्वतमासाद्य निरीक्षते परम्परम् ।
12. तदेव 1-36-18-22 13. तदेव 1-48-34, 1-55-12
14. तदेव 1-39-5 स हि देशो नरव्याघ्र प्रशस्तो यज्ञकर्मणि ।
15. तदेव 7-90-18-22
16. रा० 1-32-2, 1-37-23 17. तदेव 7-88
18. शान्तिकुमार नानुराम व्यास, रामायण कालीन समाज, पृ० 22
19. रा० 3-43-12, 4-40-44, 5-36-56, 5-56-48
20. तदेव 2-94-11, 7-26-7, 7-31-16 21. तदेव 2-12-24
22. तदेव 2-94-12 23. तदेव 2-110-5
24. तदेव 5-1-27 दर्शयन्तो महाविद्यां विद्याधर महर्षयः ।
25. ई० डब्ल्यू० हाप्किस, एपिक माईथालाजी, पृ० 175 26. रा० 5-1-22
27. तदेव 2-94-12 शाखावसक्ताखड्गाश्च प्रवराम्बराणि च ।
पश्य विद्याधरस्त्रीणां की, डोद्देशान्मनोरमान् ॥
28. तदेव 5-12-20 रूपेणाप्रतिमा लोके पराविद्याधरस्त्रियः ।
29. तदेव 5-1-22 त्रस्ताविद्याधरास्तस्मादुपेतुः स्त्रीगणैः सह ।
30. तदेव 3-14-28, 5-1-145 सुरसां नागमातरम् ।
31. रा० 3-32-13, 4-41-38 32. तदेव 3-32-14, 6-7-9
33. तदेव 6-7-9 वासुकिस्तक्षकः शंखोजटी च वशमाहृता ।
34. तदेव 3-32-14 तदेव 3-32-14 तक्षकस्य प्रिया भार्या पराजित्य जहार यः ।
35. तदेव 4-66-5, 4-50-41-44
36. तदयो 5-12-21 नागकन्या वरारोहा पूर्णचन्द्रानिभाननाः ।
37. तदेव 7-2-9-11 38. तदेव 1-34-18
39. तदेव 7-4-12-13 40. तदेव 7-13-16
41. तदेव 4-43-23 धनदो रमते श्रीमान्गुह्यकै सह यक्षराट् ।
42. तदेव 4-40-44, 4-41-22, 5-1-8, 5-56-35
43. तदेव 7-15-2 वीराणां यक्षाणां युद्धशालीनाम् ।
44. तदेव 1-25-2 अल्पवीर्या यदायक्षी 45।
45. रा० 1-24-25-27
46, तदेव 1-25 47. तदेव 7-4-12-13
48. तदेव 4-43-22 धनदो रमते श्रीमान्गुह्कैः सह यक्षराट् ।
49. तदेव 1-44-35
50. तदेव 1-44-33 अप्सु निर्मन्थनादेव रसात्तस्माद्वरास्त्रियः ।
उत्पेतुर्मनुज-श्रेष्ठः तस्मादप्सरसो भवन् ॥
51. तदेव 1-18-16, 1-73-35, 6-128-72, 1-48-20, 5-28-26
52. रा०. 7-86-13 53. तदेव 4-39-43, 7-11-44
54. तदेव 4-42-22 55. तदेव 3-10-15, 1-63-14, 1-64
56. तदेव 1-63-8-11 57. तदेव 1-18-19, 1-73-35, 6-म 28-72
58. तदेव 5-1-28 चारणानां च सिद्धानां स्थितानां विमलेश्वरे ।

□

पश्चिम हिमालय की लोक-प्रतिमाएं

□ ओमचन्द हाण्डा

वर्ष भर में फले अनेक व्रतों तथा अन्य आनुष्ठानिक अवसरों पर मिट्टी, आटे तथा अन्य लोक-सुलभ माध्यमों में बनाई गई प्रतिमाओं द्वारा पहाड़ी लोक-मानस की प्रकृति-सुलभ सौंदर्य-चेतना का आभास मिलता है। यद्यपि इन प्रतिमाओं का निर्माण संबद्ध पौराणिक आख्यानों तथा मिथकों के आधार पर किया जाता है तथापि विध्यात्मक आग्रहों ने कभी भी इस विधा में सहज लोक-सुलभ सौंदर्याभिव्यक्ति की संभावनाओं को कुण्ठित नहीं होने दिया है। देश तथा काल के बदलते परिवेश में प्रतिमाओं के इस आकार तथा विषय-निर्वाह में समसामयिक रुचि-शुचि के अनुसार विकास होता रहा है। इस प्रकार इस विधा का रूप विधासित शिल्प-प्रभाव और विभिन्न शैलियों के कारण परिमार्जित होता रहा है। परन्तु ये प्रभाव इस विधा पर सतही ही हैं तथा इनमें प्रतिपादित विषय तथा भाव देश-काल की सीमाओं से परे, अपरिवर्तित ही रहे हैं।

विभिन्न व्रतों, त्योहारों तथा अन्य अवसरों पर बनाई जाने वाली प्रतिमाओं के विषय परम्परागत रूप से रूढ़ हैं। उन अवसरों पर विशिष्ट प्रतिमाओं का बनाया जाना तथा पूजन-अर्चन अनिवार्य माना जाता है। उदाहरणार्थ, हरिताक्षिण तृतीया तथा शिवरात्रि के अवसर पर शिव-पार्वती, बच्छद्वाहा द्वादशी के अवसर पर साह-साहणी तथा बहुलाबोध पर गाय-बछड़े की प्रतिमाएं बनाना अनिवार्य है। परन्तु इन अवसरों पर विशिष्ट प्रतिमाओं के अतिरिक्त लोक रुचि-शुचि के अनुसार अन्य लोक-सुलभ विषयों पर भी प्रतिमायें बनाई जाती हैं।

विभिन्न अवसरों पर बनाई जाने वाली प्रतिमाओं का, उनके महत्व के अनुसार, साज-शृंगार किया जाता है, जिससे मैं विधयात्मक रचनाएं सहज ही सुन्दर कला-कृति के रूप में सजीव हो उठती हैं। इस संदर्भ में हरितालिका तृतीया के अवसर पर बनाई जाने वाली प्रतीक-प्रधान मानवीय तथा पशु-पक्षियों की प्रतिमाएं विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं। लोक-कल्पनाशीलता की जितनी सहज और प्रखर अभिव्यक्ति इस अवसर पर बनाई जाने वाली पक्षियों की प्रतिमाओं में हुई है वह पहाड़ी लोक-सर्जनात्मकता की विशिष्ट उपलब्धि सहज ही मानी जा सकती है। रैली के अवसर पर बनाई जाने वाली मानवाकृतियां भी यथार्थवादी निरूपण के लिए महत्वपूर्ण हैं। परन्तु इन कलात्मक रचनाओं के प्रतिवाद-रूप इस प्रकार की प्रतिमाएं भी परंपरित हुई हैं जिनका केवल विध्यात्मक महत्व ही है। इस प्रकार की प्रतिमाएं व्रत अथवा अवसर-विशेष के

लिए गोबर अथवा आटे में बनाई जाती हैं तथा विधि-पूजन पूरा होने पर विसर्जित कर दी जाती हैं।

हरितालिका तृतीया से कुछ दिन पहले महिलाएं मिट्टी में शिव-पार्वती, पक्षियों, पशुओं आदि की प्रतिमाओं का परंपरागत मान्यताओं के अनुसार निर्माण करती हैं। इसके अतिरिक्त इस अवसर पर अन्य मानवीय चरित्रों की प्रतिमाएं भी बनाई जाती हैं जिनमें गणेश, राधा-कृष्ण, सीता-राम, जमीनदार, दुल्हा-दुल्हन आदि लोकप्रिय चरित्र रहे हैं। यद्यपि इस अवसर पर बनाई जाने वाली अनेक प्रतिमाओं का इस व्रत के विध्यात्मक रूप से कोई संबंध नहीं और ना ही संबद्ध पौराणिक आख्यान में इस प्रकार का कोई निर्देश ही है, परन्तु इन अतिरिक्त प्रतिमाओं का निरूपण लोक-मानस की सहज आकांक्षाओं और अभिलाषाओं को अभिव्यक्त करता है। गणेश, मंगल, सुख और समृद्धि के लिए परंपरागत रूप से ही पूज्य रहा है। अतः गणेश की प्रतिमा का निर्माण इस अवसर पर भी इसी भावना की सहज अभिव्यक्ति है। राधा-कृष्ण और सीता-राम युग-युग से लोक-मानस में प्रेरणा के अनन्त स्त्रोत रहे हैं। अतः जब कभी भी लोक-मानस ने भावाभिव्यक्ति के लिए विषयों का चयन किया है। राधा-कृष्ण और सीता-राम सर्व-सुलभ चरित्र रहे हैं। प्रतिमाओं में ही नहीं, लोक-गीतों, चित्रकारी, नृत्यों आदि सभी कला-विधाओं में ये चरित्र अनंत रूपों में रूपायित हुए हैं, अतः हरितालिका के अवसर पर इनकी प्रतिमाओं का बनाया जाना एक स्वाभायिक परिणति है। जमीनदार लोक-जीवन में सत्ता ऐश्वर्य और वैभव का प्रतीक है तथा दुल्हा-दुल्हन का निरूपण पारिवारिक आकांक्षाओं को साकार करता है। इस प्रकार ये सब चरित्र भले ही व्रत-कथा के अंतर्गत अनावश्यक लगें, परंतु इस अवसर पर उनका रूपायन लोक-मानस की अंतर्निहित सहज आकांक्षाओं को अभिव्यक्त करता है।

हरितालिका तृतीया का व्रत शिवालिक पर्वतमाला के आंचल में स्थित सिरमौर, सोलन, बिलासपुर, मण्डी, कांगड़ा, जम्मू और चम्बा क्षेत्रों में भाद्रपद की शुक्ल तृतीया को मनाया जाता है। कई स्थानों पर इसे चिड़ियों का व्रत भी कहा जाता है। मण्डी में इसे 'हरयाली त्री' कहा जाता है।

हरितालिका व्रत-परंपरा हिमाचल में अधिक पुरानी नहीं। संभवतः विस्थापित लोक-समूहों के यहां बसने के कारण ही इस परंपरा का प्रसार शिवालिक क्षेत्र में हुआ होगा। शिव-पूजन से विकसित इस व्रत पर भागवत धर्म के प्रभाव स्पष्ट रूप से पड़े हैं। सीता-राम तथा राधा-कृष्ण का रूपायन इसी तथ्य की ओर संकेत करता है।

हरितालिका व्रत का भविष्योतर पुराण में विशद् वर्णन है। उसके अनुसार यह त्योहार सर्वप्रथम पार्वती ने भगवान शिव को प्रसन्न करने के लिए मनाया था। उसने हिमालय की अज्ञात गुफा में अपनी सहेली के साथ सहवास में शिव-प्राप्ति के लिए घोर तपस्या की थी जिसके कारण यह व्रत हरित+अलिका (हरितालिका) अर्थात् 'सहेली द्वारा हरण की गई' पड़ा। पार्वती की वह सहेली निश्चिततः किन्नर-बाला ही रही होगी। कालिदास भी कुमारसंभव में पार्वती की सहेलियों को किन्नर-बालाएं ही बतलाते हैं। सुनसान हिमालयी उपत्यकाओं में किन्नर-बालाओं के अतिरिक्त वह भला वहां और किसे सहेली बना सकती थी। कुमारसंभव में कालिदास कहते हैं :

उपानवर्णे चरिते पिनाकिनः सबाष्पकण्ठस्तलितैः पदैरियम्,
अनेकशः किन्नरराजकन्यका बनाडन्त संगीत सरवीररोदयात्।

अर्थात्

शिव के चरित का गान करती सदुःख रो उठती सदा।[1]
किन्नर-सुताओं को अमित रोकर रुलाती सर्वदा॥

भविष्योत्तर पुराण में हरितालिका के अवसर पर शिव-पार्वती की बालु की प्रतिमाएं बनाने का निर्देश है। पुराण के अनुसार :—

नाना मंगलगीतं च कर्त्तव्यं मम सद्मनि।
स्थापयेद् बालुकालिंगम् पार्वत्या सहितं मम॥[2]

शिवरात्रि पश्चिमी हिमालयी क्षेत्र का सबसे लोकप्रिय त्योहार है। शिवालिक—तराई क्षेत्र से जन-जातीय क्षेत्र के अंतिम छोर तक यह त्योहार अनेक प्रकार से मनाया जाता है। मेले, नृत्य, गीत आदि मनोरंजनों के अतिरिक्त इस अवसर पर पूजन के लिए चित्र तथा प्रतिमाएं भी बनाई जाती हैं। प्रदेश के मध्य भाग में इस अवसर पर मिट्टी में शिव, पार्वती तथा नन्दी की प्रतिमाएं बनाई जाती हैं। तराई क्षेत्र को छोड़कर, हिमाचल में शिव का शास्त्रीय रूप अनजाना ही है। यहां शिव जिस रूप में पूज्य है वह संभवतः आदिम देवता पशुपतिनाथ और नाग का मिश्रित संस्करण है और इन्हीं आदिम देवताओं की पूजा-प्रसादन/पद्धति से प्रभावित शिव-पूजा यहां परंपरित हुई है। इसी परंपरा के अनुरूप यहां देवी-देवताओं का विस्तार भी हुआ है। महासु (महाशिव), सिरगुल (श्रीगुरु), बिजट महादेव (बिजली महादेव), मणिमहेश, माहुनाग आदि असंख्य स्थानीय देवताओं के नाम इसी तथ्य के कुछ उदाहरण हैं। इसके अति-रक्त तांत्रिक प्रभाव के अंतर्गत भी भूतनाथ, भागसूनाथ आदि शिव-रूप शिवालिक क्षेत्र के आस-पास पूज्य हैं। शिव-नाग देवताओं से संबंधित अनेक लोक-कथाएं और विश्वास यहां स्थानीय रूप से लोक-मानस में प्रचलित हैं।

शास्त्रीय शिव से भिन्न, यहां के शिव-नाग देवता मांसभक्षी हैं और पशु-बली से ही संतुष्ट होते हैं। इन देवताओं में सभी मानवीय प्रवृतियां विद्यमान हैं। ये देवता लोग यहां वासियों के संग हंसते भी हैं और खेलते-नाचते भी हैं। नाराज हो जाने पर ये देवता यातना देने से भी नहीं हिचकिचाते। परन्तु काफ़ी पूजा-प्रसादन पर भी जब देवता लोगों की प्रार्थना स्वीकार नहीं करते तो उन्हें भी लोगों का कोप-भाजन बनना पड़ता है। अतः शिव-नाग देवता यहां के वासियों के लिए मित्र भी हैं, दार्शनिक भी और मार्ग-दर्शक भी। इनसे अलग यहां का वन-जीवन एकांगी है।

शिवरात्रि गद्दियों का प्रमुखतम त्योहार है। वे लोग शिव को अपना एकमात्र देवता मानते हैं और शिव सदा ही उन पर कृपावान रहता है जैसा निम्न लोक-गीत से स्पष्ट है :

गद्दी चारदा भेडां, गद्दी दिन्दी धूपाः।
गद्दी जो द्रवा भेडां, गद्दणी जो वेंदा रूपा।

---

1. कुमार संभव, पंचम सर्ग : 56, टिकाकार : प० गंगाधर शास्त्री भारद्वाज
2. हरितालिका व्रत-कथा, भविष्योतर पुराण, 59

अर्थात् : गद्दी चराये भेड़ें, गद्दिन चढ़ायें (शिव को) धूप।
गद्दी को (शिव) देता भेड़ें, और गद्दिन को रूप।

वस्तुत: गद्दी की भेड़ें और गद्दिन का रूप-लावण्य गद्दी लोगों की विशिष्ठ पहचान है।

शिवरात्रि के अवसर पर अदक्ष हाथों द्वारा बनाई गई शिव-पार्बती की प्रतिमाएं शिल्प की दृष्टि है महत्वपूर्ण नहीं मानी जा सकती। परंतु उनका प्रतीकात्मक निरूपण सहज और भावप्रधान होता है। उन प्रतिमाओं के निर्माण में उजड़ी हुई बाम्बी से प्राप्त मिट्टी को महत्व दिया जाता है। बाम्बी की मिट्टी को पवित्रता के लिए शिव का वरदान प्राप्त है, इस प्रकार का वर्णन शिव पुराण में है। स्मृतिसंग्रह में बाम्बी की मिट्टी को सप्तमृद् में से एक माना गया है :

गजा रथ्यावल्मीकसंगमाद्ध्रदगो कुलात्।
राजद्वारप्रवेशाच्च मृदमानीय नि:क्षिपेत्॥

(हाथी-घोड़े के चलने का रास्ता, संकुचित मार्ग, बाम्बी, सरिता-संगम, गोशाला और राजद्वार में प्रवेश करने की जगह—इन स्थानों की मिट्टी सप्तमृद् है।)

स्कंद पुराण में भी शिवरात्रि के अवसर पर प्रतिमाओं के निर्माण तथा पूजन के महात्म्य पर विशद् वर्णन है।

अन्य व्रतादि अवसरों पर भी विध्यात्मक उद्देश्य से पशु-पक्षियों और मानव-प्रतिमाओं का निर्माण किया जाता है। जण्डपंज, बच्छद्वाहा द्वादशी और बहुला चौथ आदि इस प्रकार के व्रत हैं जब विविध प्रकार की प्रतिमाओं की रचना की जाती है और व्रतेश्वर को अर्पित की जाती हैं। ग्राम्य सामाजिक व्यवस्था से बिकसित ये विध्यात्मक व्रत आदिम पशु-पूजा के अवशेष-रूप आज भी लोक-मानस में रूढ़ हैं। मानव के बौद्धिक विकास के साथ-साथ पशु पूजा का स्थान देव पूजा ने ले लिया था। वे देव मानवीय आकृतियों में स्थापित हुए। भारतीय संदर्भ में पुराणों में वर्णित नरसिंह अवतार पशु-पूजा से मानव-पूजा की ओर इसी विकास-प्रक्रिया को प्रतिपादित करता है।

हड़प्पा और उसकी समकालीन सभ्यताओं के अध्ययन से पशु-पूजा-परंपरा की पुरातनता सिद्ध होती है। हड़प्पा के बैल की आकृति पारुषेय गुणों, गतिमयता और दक्ष शिल्प-निर्वाह का एक उत्कृष्ट उदाहरण सहज ही माना गया है। हड़प्पा से ही प्राप्त अनेक पाशविक अंगों के संयोजन से बनी पशुपतिनाथ की आकृति पशु-पूजा को ही सिद्ध करती है। मानव में बौद्धिक गुणों के विकास और तद्नुरूप बदलती सामाजिक व्यवस्था में पशुओं का महत्व, उन्हें पालतु बना लेने के कारण, कम हो गया। अब मानव इनसे आतंकित नहीं होता था, परन्तु वह उनसे अनेक प्रकार के काम करवाने लगा था जिनमें पशु का वाहन के रूप में प्रयोग सबसे महत्वपूर्ण है। विकास की प्रक्रिया में पशु-पूजा का स्थान मानव-पूजा ने ले लिया। पशु अब मानवाकृतियों में रूपायित देवताओं के वाहन-मात्र बनकर रह गए थे। परन्तु कृषि-प्रधान सामाजिक व्यवस्था में गाय तथा उसकी सन्तति का महत्वपूर्ण स्थान रहने के कारण, पूजन किया जाता रहा है। महाराष्ट्र में आज भी अनेक स्थानों में हाथी तथा घोड़ों के पूजन की परंपरा है।

चम्बा, कांगड़ा तथा समीपवर्ती जम्मू और मण्डी के ग्रामीण क्षेत्रों में जंड पंज के अवसर पर गाय-बैल की प्रतिमाएं गोबर में बनाई जाती हैं और उनका पूजन किया जाता है। व्रत से नौ दिन पहले से ही दूध तथा दूध से बनी वस्तुओं का प्रयोग नहीं किया जाता है परन्तु उन सबको इकट्ठा कर लिया जाता है। त्योहार के दिन इकट्ठा किये गए दूध तथा अन्य पदार्थों को पहले

प्रतिमाओं को अर्पित किया जाता है और बाद में परिवार में उनका प्रयोग किया जाता है। यह व्रत भादों में मनाया जाता है।

बच्छद्वाहा द्वादशी के अवसर पर भी साहुकार और साहुकारिन तथा गाय-बैल आदि विषयों पर आधारित प्रतिमाएं बनाई जाती हैं। इसके अतिरिक्त गूंथे हुए आटे में अनेक ज्यामितिक आकृतियों का निर्माण भी किया जाता है। ये ज्यामितिक आकृतियां चपटी, गोलाकार, तिकोणाकार, वर्गाकार आदि अनेक आकृतियों में बनाई जाती हैं। संभवतः इन आकृतियों का विकास किन्हीं आदिम जादू-टोनों पर आधारित रहस्यात्मक मान्यताओं पर हुआ होगा। इसी प्रकार की ज्यामितिक आकृतियों पर आधारित यंत्र-चित्र इस अवसर पर सूप पर चावल के आटे के घोल से भी अंकित किए जाते हैं।

सावन में ही ढोर-डंगरों की सुरक्षा के लिए बहुला चौथ का त्योहार मनाया जाता है। नारियां उस दिन व्रत रखती हैं। उस दिन जौ के आटे से बना फलाहार ही लिया जाता है। इस अवसर पर गाय, बछड़े तथा अन्य विध्यात्मक प्रतिमाओं का भी जौ के आटे में निर्माण किया जाता है। क्योंकि इन प्रतिमाओं का केवल विध्यात्मक महत्व ही होता है, इसलिए नारियां उनके साज-शृंगार पर अधिक ध्यान नहीं देती और ना ही इनके सौंदर्यात्मक अथवा शिल्प पक्ष को निहारने के लिए विशेष प्रयत्न किया जाता है। परिणामतः वे प्रतिमाएं केवल प्रतीकात्मक कृतियां ही रह जाती हैं। परन्तु अनेक नारियां अपने सहज सौंदर्यबोध से इन प्रतिमाओं को भी कलात्मक निखार से सजीव बना देती हैं। ये प्रतिमाएं पूजन के बाद गाय-बछड़े को अर्पित कर दी जाती हैं। इस अवसर पर गाय-बछड़े का पूजन भी किया जाता है। उन्हें अनेक प्रकार की लताओं-पत्तों से सजाया जाता है जिनमें स्थानीय रूप से पहचानी गई भांगरू, द्रिड़े, कोठा, बांग आदि वनस्पतियां प्रमुख हैं। ये सब पौधे औषधीय गुणों के लिए भी महत्वपूर्ण माने गए हैं। इन वनस्पतियों का प्रयोग चारे के रूप में भी किया जाता है।

जहां स्पष्ट रूप से पशु-पूजन प्रचलन से हट गया वहां इसी मान्यता को परोक्ष रूप से व्रतादि अवसरों पर अभिव्यक्ति मिलती रही। उन अवसरों पर पशु-पूजन का आंचलिक रूप आदिम मातृशक्ति से प्रभावित जन्म-क्षमता पूजन के साथ घुल-मिल गया। विध्यात्मक व्रतों पर किया जाने वाला अनुष्ठान इन्हीं मान्यताओं की सहज अभिव्यक्ति है। मातृ-शक्ति पूजन का प्रचलन आदि काल से ही मानव प्राकृतिक प्रकोपों से सुरक्षा के लिए करता आ रहा है और इसी मान्यता के अनेक संस्करण जन्म-क्षमता, बहुप्रजता तथा उर्वरता के प्रतीकात्मक पूजन के रूप में परंपरित हुए हैं। इस परंपरा के अंतर्गत मानव ने अपने आपको विषम प्राकृतिक प्रकोपों से सुरक्षित रखने के लिए एक रहस्यमयी पूजा-पद्धति का सहारा लिया था जो जन्म-क्षमता और उर्वरता के प्रतीक—लिंग और योनि—के पूजन के रूप में उभरा। लोक-मानस में ये प्रतीक शिव-महादेव के नाम से अभिहित हुए हैं और योनि-पीठ पर स्थापित शिवलिंग को समर्पित मंदिर पूरी शिवालिक शृंखला में फैले हैं। के० एम० मुन्शी के अनुसार, मानव सदा ही लिंग और योनि को, जो प्रजननात्मक शक्ति के प्रतीक हैं, विस्मयात्मक आदर से देखता रहा है।

जन्म-क्षमता-पूजन के प्रमाण आदिम मातृ-शक्ति में आस्था के रूप में सहज ही देखे जा सकते हैं। और, यह आस्था स्थानीय या सीमित न होकर विश्वव्यापी रही है। अन्य एशियाई तथा भू-मध्य सागरीय सभ्यताओं में भी इसके प्रभाव के उदाहरण प्राप्त हुए हैं। सिन्धु घाटी में लिंग-पूजन का प्रचलन इसी तथ्य को प्रमाणित करता है और इसी मान्यता के विस्तृत प्रसार

के प्रमाण सतलुज तथा सिन्धु घाटी में उत्खनन से प्राप्त नारी प्रतिमाओं से मिले हैं। हड़प्पा से प्राप्त मोहर में नग्न-मातृ-शक्ति प्रतिमा को सिर के बल टिके हुए प्रदर्शित किया गया है और उसकी नाभी (अथवा योनि) से कमल का डण्ठल-सा निकलता हुआ दिखाया गया है। उसे प्रजनन-क्षमता का प्रतीक माना गया है। यह प्रतिमा एक विशिष्ट तथ्य को उद्घाटित करती है कि आदिकाल से ही मानव योनि को समस्त वानस्पत्य और जैविक सत्ता का आधार मानता रहा है। यही मान्यता कालान्तर में भारतीय धार्मिक विचारधारा के अंतर्गत और भी प्रखरता के साथ उभरीं। यथा विष्णु की नाभी से निकले कमल पर ब्रह्मा का संयुक्त प्रतीक इस मान्यता की दार्शनिक व्याख्या है। हड़प्पा से प्राप्त उपर्युक्त मोहर भारतीय वांङ्मय की शक्ति पृथ्वी, अदिति और लक्ष्मी आदि देवियों का आदि-रूप है। बारछूत, सांची और उड़ीसा आदि स्थानों में अंकित पक्षी की कामुक मुद्राएं भी इसी आदिम मान्यता से उद्भूत परिष्कृत अभिव्यक्ति हैं।

स्पष्टतः आदिकाल से ही इन जन्म-क्षमता प्रतिमाओं ने अनेक रूपों में मानव की सौंदर्याभिव्यक्ति के लिए उपकरण सुलभ कराये हैं और इस प्रकार से भावाभिव्यक्ति के लिए अनेक ललित-विधाओं का सूत्रपात हुआ। कालान्तर में यही मूल-भावना अनेक प्रतीकों के माध्यम से कला, धर्म, साहित्य और दर्शन में विकसित हुई। ये प्रतीक मानव की सामूहिक-चेतना की रहस्यात्मकता के न केवल कल्पनात्मक, भावात्मक और सौंदर्यात्मक पक्षों को उद्घाटित करते हैं परन्तु मानव की बौद्धिक आकांक्षाओं को भी अभिव्यक्त करने में सहायक हैं।

मातृ-शक्ति की पूजा बहु-प्रजता, उर्बरता और प्राचुर्य तथा परिवार तथा ढोर-डंगरों की सुरक्षा-सम्पन्नता के लिए की जाती है। इस विश्वास का आधुनिकतम रूप संतोषी माता का व्रत है जिसे विवाहित नारियां तथा नव-युवतियां शुक्रबार को रखती हैं। यह एक रोचक तथ्य है कि मातृ-शक्ति से सम्बद्ध लगभग सभी त्योहार सावन-भादो में ही पड़ते हैं। संभवतः इसका कारण यह रहा हो कि इन्हीं दिनों वर्षा के कारण जान-माल की हानि की सबसे अधिक आशंका रहती है। मातृ-शक्ति को ही हिमाचल में विधि-माता के नाम से जाना जाता है। जन्म-दिन और विवाह आदि अवसरों पर विधि-माता का पूजन-तर्पण आवश्यक माना जाता है।

प्रजनन-क्षमता-पूजन का रोचक पक्ष कांगड़ा तथा समीपवर्ती जम्मू क्षेत्र में मनाये जाने वाले रती त्योहार से स्पष्ट होता है। फाल्गुन मास के अंतिम दिन अविवाहित लड़कियां और नवविवाहित वधुएं गूंथी हुई मिट्टी के तीन पिंडों में एक-एक कौड़ी गाड़ती हैं। अगले दिन, अर्थात् प्रथम क्षेत्र के दिन से उन मिट्टी के पिंडों का दस दिन तक पूजन किया जाता है और ग्यारहवें दिन उनमें से तीन प्रतिमायें बनाई जाती हैं। यह ध्यान रखा जाता है कि कौड़ियां उन प्रतिमाओं में विद्यमान रहें। इन प्रतिमाओं को दुल्हन 'रती' दुल्हा 'शंकर' तथा दुल्हन का भाई 'वस्तु' के नाम से प्रतिष्ठित किया जाता है। युवतियां इन प्रतिमाओं का निर्माण तथा साज-शृंगार इतने सुचारू ढंग से करती है कि जैसे वे प्रतिमाएं कृत्रिम न होकर सजीव चरित्र ही हों। कई बार इन प्रतिमाओं के निरूपण के लिए शिल्प-दक्ष कुम्हारों की सहायता भी ली जाती है। दक्ष कुम्हारों द्वारा निर्मित प्रतिमाएं आकार तथा माप में वास्तविक मानवीय चरित्रों से होड़ लेती-सी लगती हैं। प्रतिमाओं के अनगढ़ रहे अवयव उपयुक्त परिधानों से सहज ही ढांप दिए जाते हैं जिससे प्रतिमाओं में और भी सौष्ठवता आ जाती है।

त्योहार के दिन रती-प्रतिमाओं का पूजन किया जाता है और उन्हें पीले रंग के हारों से सुसज्जित किया जाता है। पीला रंग तारुण्य का सर्वमान्य प्रतीक है। संभवतः इसीलिये 'हाथ

पीला करना' की लोकोक्ति विवाह करने के लिए परंपरित हुई है। रती के अवसर पर जब युवतियां पीले फूलों को इकट्ठा कर रही होती हैं, वे समवेत स्वर में निम्न गीत गाती हैं :

द्रके तू द्रेके, ओ डोडलेया
द्रेके लगदे दुकानू
जितने दुकानू उतने मेरी अमड़ीया दे पूत।

अर्थात्

द्रेक ! ओ अरीठे से (कड़वे) द्रेक।
द्रेक पर लगे द्रेक-फल
उतने मेरी अम्मा के पुत्र
जितने लगे हैं द्रेक-फल।

उपर्युक्त गीत में बहिन की अपने लिये अनगिनत भाइयों की इच्छा को माता के लिए प्रजनन-क्षमता की कामना से जोड़ा गया है और इसके लिए द्रेक-फूल से लदे वृक्ष का बिम्ब उभारा गया है। पीले फूलों का चयन, द्रेक वृक्ष का सटीक 'मोटिफ' आदि स्पष्टत: इस त्योहार के प्रजनन-क्षमता-पूजन के महत्व को उद्‌घाटित करते हैं।

बैसाखी से अगले दिन रती और शंकर को वैवाहिक परिधानों में सुसज्जित किया जाता है और उसके साथ 'वस्तु' को भी एक पालकी में बैठाकर शोभा-यात्रा निकाली जाती है। उन्हें पालकी में किसी पास की नदी के किनारे ले जाते हैं जहां इन प्रतिमाओं का विधिवत् विसर्जन कर दिया जाता है। प्रतिमाओं पर चढ़ाये गए पीले फूल युवतियां उपहार-स्वरूप अपने घरों को ले जाती हैं। ऐसी मान्यता है कि इन फूलों को घर में रखने से पारिवारिक सुख-समृद्धि प्राप्त होती है।

इस त्योहार का आरंभ एक दंतकथा पर आधारित है जिसमें एक नवयौवना युवती की बाल-दूल्हे के साथ विवाह की भर्त्स्ना की गई है। रती के अवसर पर बनाई गई प्रतिमाएं अपने वास्तविकता-मूलक गुणों के कारण अन्य विध्यात्मक प्रतिमाओं की तुलना में अधिक परिष्कृत तथा सुगढ़ होती हैं। अन्य अवसरों पर जहां सहज प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति पर अधिक ध्यान दिया जाता है, रती-प्रतिमाओं में यथार्थवादी निरूपण पर आग्रह रहता है और प्रतिमाओं को अधिक सजीव बनाने की लोक-कलाकारों में होड़-सी रहती है।

रती-प्रतिमाओं में कौड़ी का प्रयोग तथा प्रासंगिक लोकगीत इस त्योहार की मातृ-शक्ति के प्रजनन-क्षमता से पक्ष को उजागर करता है। प्रजनन-क्षमता संबंधी उपर्युक्त प्रमाणों के अति-रिक्त कौड़ी का प्रयोग भी इस धारणा को स्थायित्व प्रदान करता है। कौड़ी को व्यापक रूप से प्रागैतिहासिक काल से ही प्रजनन-क्षमता का प्रतीक माना गया है। संभवत: इसका कारण कौड़ी की दरार की योनि से समता हो। इस साम्य-भाव के अंतर्गत कौड़ी को मिश्र, सैनगल, सिरिया, जापान, कैमरुन आदि स्थानों में प्रजनन-शक्ति के प्रतीक-रूप में माना गया है।[1] रती-प्रतिमाओं में कौड़ी का प्रयोग निश्चितत: योनि के रूप में नहीं होता क्योंकि यहां सभी, नारी तथा पुरुष प्रतिमाओं में इसे गाड़ा जाता है। अत: इस अवसर पर कौड़ी का प्रयोग प्रजनन-

1. विरियर एल्विन, द ट्राइबल आर्ट ऑफ मिडल इण्डिया, पृ० 39-40

शक्ति के प्रतीक-रूप में ही माना जाना चाहिए। जे० एच० ड्रिवर्ग का मत भी इसी धारणा को पुष्ट करता है। उनके अनुसार भी कौड़ी योनि का, प्रजनन-शक्ति के स्रोत के रूप में प्रतीक है ना कि योनित्व का। शिवालिक क्षेत्र तथा प्रदेश के मध्य भाग में कई स्थानों पर कौड़ी का प्रयोग विवाह के अवसर पर नव-वधु की आनुष्ठानिक-माला में किया जाता है। इस माला को 'कलिरे' कहते हैं। नव-वधू के कलिरे में कौड़ी का प्रयोग निश्चितत: बहुत प्रजनन-क्षमता की आकांक्षा का ही उद्घोषक है।

कौड़ी के प्रयोग के बारे में और भी अनेक मान्यतायें लोक-मानस में परम्परित हुई हैं जिनका संक्षिप्त वर्णन यहां प्रासंगिक ही होगा। एक मान्यता के अनुसार कौड़ी को, उसकी दरार तथा किनारों पर खरोंचों की अधखुली आंख और पक्ष्म से समानता के कारण, आंख का प्रतीक भी माना गया है। संभवत: इसी मान्यता के कारण कौड़ी का प्रयोग जादू-टोनों आदि में कुदृष्टि के परिहार के लिए प्रचलित है। सामान्यत: इसी धारणा के प्रभाव में काले धागों में कौड़ी बांधकर बच्चे के गले में पहनाई जाती है। इस काम के लिए अर्थी के ऊपर से फेंकी गई कौड़ी प्रभावपूर्ण मानी गई है। ऐसा विश्वास है कि बुरी नजर पड़ने पर यह कौड़ी टूट जाती है। जादू-टोनों में प्रयोग से अलग, कौड़ी का आंख के लिए कलात्मक प्रयोग भी बहु-प्रचलित रहा है। गद्दियों द्वारा बनाई गई अनेक प्रतिमाओं तथा सज्जा-अलंकरणों में इसका प्रयोग होता रहा है और कौड़ी के कलात्मक प्रयोग के छुट-पुट उदाहरण शिमला के भीतरी क्षेत्र में भी मिलते हैं। विरियर एल्विन ने मध्य भारतीय आदिवासियों तथा आसाम आदि क्षेत्रों में कौड़ी के तांत्रिक प्रयोग का वर्णन किया है। बोर्नियो तथा नाइजिरिया में इसे आंख के प्रतीक के रूप में पवित्र माना गया है।

कौड़ी का प्रयोग मुद्रा के रूप में भी होता रहा है। क्योंकि लोक-मानस में मुद्राओं का साज-शृंगार के लिए प्रयोग समृद्धि का द्योतक माना गया है, अत: इसी संदर्भ में कौड़ी का प्रयोग अभी भी, जब कि इसका प्रचलन मुद्रा के रूप में नहीं होता है, सज्जा-परिधानों तथा मालाओं में होता है। चम्बा के गद्दी लोग अपनी अनेक वस्तुओं को कौड़ी से अलंकृत करते हैं और शिवालिक क्षेत्र में लवाणे लोग अपने बैलों के लिए सुसज्जित आवरण-वस्त्रों को कौड़ी के कलात्मक प्रयोग से सजाते हैं। कौड़ी के बारे में और भी अनेक प्रकार के विश्वास और मान्यताएं परम्परित हुई हैं, परन्तु प्रजनन-शक्ति के प्रतीक-रूप इसका प्रयोग सर्वमान्य है। रती के अवसर पर इसका प्रयोग भी इसी तथ्य का उदाहरण है।

सभ्यता के आरंभिक चरण में अंधविश्वास ही मानव का सम्बल था। इसके द्वारा ही अपने चारों ओर रहस्यमयी प्राकृतिक समस्याओं के समाधान खोज सकता था। वह संकट की घड़ी में दुःख-निवारण के लिए पशुबली की मनौती करता क्योंकि उसके पास उस समय पशुबली से अच्छी कोई भेंट ही नहीं थी। पशुबली का यह आदिम रूप, सभ्यता के विकास के साथ, आज भी अपनी मूल-अवस्था में ही रहा है। हिमाचल में अनेक स्थानों में अभी भी यह प्रथा प्रचलित है। परन्तु बदलती सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों में अनेक स्थानों, विशेषत: तराई-क्षेत्र में अनेक विध्यात्मक अवसरों और धार्मिक समारोहों में वास्तविक पशुबली का स्थान अनुकल्पिक बली ने ले लिया है। ऐसे अवसरों पर वास्तविक पशु के स्थान पर पशु-प्रतिमा आदि से ही काम चला लिया जाता है। परिणामत: बकरे के स्थान पर बकरे के प्रतीक-

रूप "नारियल' से ही काम चला लिया जाता है। किसी जल-स्रोत के प्रतिष्ठान के अवसर पर 'डीने' (जल-साप) का मानवीकरण एक ब्राह्मण में किया जाता है। ब्राह्मण के हाथ में चांदी की बनी सांप की प्रतिमा रखी जाती है और इस प्रकार वास्तविक सांप के प्रतीक-रूप ब्राह्मण-नाग का पूजन किया जाता है ताकि जल-स्रोत सुरक्षित रहे। यह प्रथा मानवीकृत नाग की पूजन-परम्परा को उद्घाटित करती है। पानी के देवता के रूप में नाग-पूजन की परंपरा का यह स्पष्ट प्रमाण है।

जब किसी व्यक्ति की आकस्मिक मृत्यु के कारण गोदान नहीं करवाया जा सके तो धातु की बनी अनुकल्पिक गाय की प्रतिमा से ही यह कार्य पूरा कर लिया जाता है।

मण्डी, कुल्लू आदि स्थानों में 'बकरयाला साजा' के अवसर पर बकरा काटने की प्रथा रही है। परंतु बदलती आर्थिक परिस्थितियों में यह काम गेहूं के आटे में बने वैकल्पिक 'बकरे' —पिष्ट-पशु—से ही चला लिया जाता है।[1] 'बकरयाला साजा' आषाढ़ की पहली तिथि को, जो कि जून के दूसरे पखवाड़े में पड़ती है, प्रदेश में लगभग सभी भीतरी स्थानों में मनाया जाता है। 'बकरयाला साजा' संभवत: आदिम कोल और द्रविड़ आदिवासियों का त्यौहार रहा होगा। उसी परंपरा का यह अवशेष-रूप त्योहार आज भी जन-जातीय समूहों में बड़ी धूमधाम से मनाया जाता है। इस अवसर पर मण्डी में स्थित पराशर झील के आस-पास मेले का आयोजन होता है। ऐसी लोक-मान्यता रही है कि इस त्योहार के बाद दिन बकरे की छलांग की दूरी जितने छोटे होना आरंभ हो जाते हैं। इस त्योहार का इक्कीस जून से साम्य महत्वपूर्ण है।

---

1. वैकल्पिक 'बली' का प्रयोग पौराणिक काल में ही मनीषियों ने ब्राह्मणों द्वारा प्रतिपादित पशुबली के विरोध में आरंभ कर दिया जाता था तथा पशुबली के स्थान पर 'पिष्ट-पशु' की बली का प्रचलन आरंभ हो गया था : देखिए, महाभारत, शांति पर्व।
1. स्टेट गजेटियर, खण्ड *XXII*-ए चम्बा स्टेट, 1904, पृष्ठ 198, इस टिप्पणी में वस्तुतः 'कोल' अथवा 'द्रविड़' शब्द किसी जाति विशेष के सूचक नहीं परन्तु हिमाचल में बसी सभी पुरानी जातियों की ओर संकेत करते हैं जिनमें खश भी सम्मिलित हो जाते हैं।
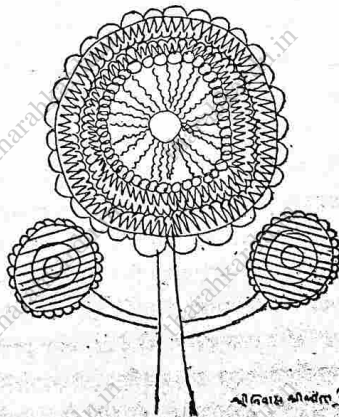
प्रगतिशील लेखक संघ : स्वर्ण जयंती समारोह

☐ सुरेश सेठ

रवीन्द्रालय, लखनऊ। अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ का स्वर्ण जयंती समारोह। महासचिव श्री भीष्म साहनी ने अपने पत्र में लिखा था, कि देश-विदेश के लगभग पांच सौ प्रतिष्ठित लेखकों व डेलिगेटों के पहुंचने की उम्मीद है। लेकिन लेखक लोग उम्मीद से अधिक आ जुटे। एक ओर अगर हमने रूस, अमेरिका, कैनेडा और इंग्लैंड के डेलिगेटों को देखा, तो दूसरी ओर पाकिस्तान का एक भरा-पूरा डेलिगेशन **सिब्तेहसन** की अध्यक्षता में उपस्थित था। नौ अप्रैल के प्रारम्भिक सत्र में रवीन्द्रालय का हॉल ही नहीं बॉलकनी भी पधारे लेखकों से ठसाठस भरी हुई थी। मंच के दोनों ओर **मुंशी प्रेमचंद** और **बन्ने बाबू सज्जद जहीर** के बड़े-बड़े चित्र प्रगतिशील आंदोलन के पचास वर्षीय इतिहास का परिचय दे रहे थे। हाल में जिन्दाबाद के नारे गूंज रहे थे, और बाहर आयोजक शामियाने से साथी लोग तीस रुपये की खुराक की पर्ची कटवा रहे थे। हमने मंच पर जनाब **कैफी आज़मी** के साथ **अली सरदार जाफरी, सिब्तेहसन, गुलामनबी तांबा, अमृतलाल नागर,** और **डॉ० नामवर सिंह** को देखा। **अमृतलाल नागर** का स्वागत भाषण उनके दृष्टिदोष और खराब स्वास्थ्य के कारण **श्री ठाकुरप्रसाद सिंह** ने पढ़ा। **भीष्म साहनी** मंच संचालन कर रहे थे। डेलिगेटों को उनकी सादगी और लोकप्रियता एक गहरे अपनेपन का एहसास दे जाती थी। यह सम्मेलन कई दृष्टियों से बहुत महत्वपूर्ण और साहित्यिक समाचारों से भरा हुआ था। समारोह के शुरू होने से पूर्व यार लोगों का यह कहना था कि अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ अब बुढ़ा गया है। समाज को बदल डालने के नाम पर कांसने और कराहने के सिवा इससे कुछ होता जाता नहीं। अब इस सम्मेलन में अगर कुछ जान देने वाले फैसले हो जायेंगे, कुछ युवा लोग आगे आयेंगे, तभी लेखकों के इस मंच से सामाजिक क्रांति के आह्वान को कुछ बल मिलेगा।

हम सम्मेलन स्थल पर गए, और हमने पाया कि जहां मंच पर बड़े-बूढ़े सुशोभित थे, वहां हाल में उर्दू के साथ-साथ हिन्दी के गण्य-मान्य लेखकों की भी कमी नहीं थी। जहां हॉल के एक कोने में हमने **राजेन्द्र यादव,** और **अमरकान्त** को देखा, वहां दूसरी ओर **ज्ञानरंजन, कुमार विकल,** वगैरह भी अपने चेले-चांटों को लेकर डटे हुए थे। नौजवानों की भी कमी नहीं थी, जो अपने घुटने पीट-पीटकर नारे उठाते हुए बहुत भावुक हो जाते थे। हमने दक्षिणी भारत से लेकर

काश्मीर तक के बहुत-सी भाषाओं के लेखकों को वहां पाया, और इसे सही अर्थों में एक विश्व अथवा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन कहा जा सकता था।

सम्मेलन में ऐसे बहुत-से वृद्ध लेखक उपस्थित थे, जिन्होंने सन् 1936 में इस संघ की स्थापना होते देखी थी। अत: तीनों दिन माहौल बहुत भावुकतापूर्ण, अतीतजीवी, और स्मृतियों की पगडंडी टटोलने-सा भी रहा। वयोवृद्ध अंग्रेजी लेखक **डॉ० मुल्कराज आनन्द** तो पहले दिन इस सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए इन पचास बरसों की स्मृति-यात्रा पर निकलते हुए कुछ इस कद्र विचलित हुए, कि बोलते-बोलते संज्ञाहीन हो वहीं मंच पर गिर गए, और उन्हें अस्पताल ले जाना पड़ा। इसके बाद यह सत्र स्थगित कर देना पड़ा। बाकी दो दिनों में प्रगतिशील साहित्य, समकालीन जीवन की चुनौतियों, और युवालेखन की समस्याओं पर बहसमुबाहिसे होते रहे। शाम के सांस्कृतिक कार्यक्रमों में लोक-नृत्य, हबीब तनवीर का नाटक एवं मुशायरा हुए। लेकिन एक मर्मस्पर्शी दृश्य आखिरी दिन की शाम को प्रगतिशील लेखकों का एक मौन जुलूस था। इसमें लेखकगण रवीन्द्रालय से रफाये आम क्लब तक पैदल गए। रफाये आम क्लब वह क्लब है, जहां आज से पचास बरस पूर्व अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ की नींव रखी गई थी।

इन तीन दिनों में बीच-बीच में हम सम्मेलन स्थल से अलग हो लखनऊ के छोटे-बड़े हिन्दी लेखकों से भी मिलते रहे। उनका यह विचार था कि इस सम्मेलन में, मंच और हाल में उर्दू लेखक अन्य भाषाओं, विशेष रूप से हिन्दी के लेखकों पर छाये हुए हैं। और यहां हिन्दी लेखकों के नाम पर छुटभय्ये उपस्थित हैं। उन दिनों उत्तर प्रदेश के स्थानीय समाचार-पत्रों ने भी उर्दू-हिन्दी वालों के इस झगड़े को तूल देने का प्रयास किया और यहां तक लिख दिया कि उर्दू लेखकों ने हिन्दी वालों के प्रभुत्व से परेशान होकर अपना समानान्तर सम्मेलन कर डाला है। लेकिन आयोजकों ने, और तीसरे दिन के सुबह के सत्र की अध्यक्षता करते हुए जनाब कैफी आजमी साहिब ने इसका ज़ोरदार शब्दों में खण्डन किया और इसे पूंजीपति प्रेस का प्रगतिशील आंदोलन के विरुद्ध एक षड्यंत्र करार दिया।

पर्दे के पीछे जो षड्यंत्र रहता है, उसका पता तो दर्शक को नहीं चलता, लेकिन हमें यह अवश्य लगा कि इस सम्मेलन में उर्दू लेखक हावी थे और बेचारे हिन्दी लेखक व्यवस्था में व्यस्त थे। इसके अतिरिक्त पाकिस्तान से आयी महिला लेखिका **फहमीदा रियाज** ने तो तीसरे दिन के सुबह के सत्र में उठकर यहां तक कह दिया कि हिन्दी लेखन में प्रगतिशीलता के चिह्न बहुत कम है। इस आरोप का एक निर्जीव-सा विरोध हॉल में हुआ। इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी कहा कि मुसलमान भारत में बहुत दु:खी हैं, पर अपनी दुरावस्था के विरोध में आवाज नहीं उठा रहे। लेकिन पाकिस्तानी डेलिगेशन के नेता **श्री सिब्ते हसन** ने इसके बाद उठकर फहमीदा रियाज के विचारों का विरोध किया, और इसे उनके नितान्त निजी विचार करार दिया। यह बड़े दु:ख की बात है कि ऐसे सुलझे हुए विचारों वाले सत्तर वर्षीय सिब्ते हसन साहिब समारोह के बाद दिल्ली पहुंचने पर हृदयाघात से चल बसे।

इस तीन दिवसीय सम्मेलन की एक विशेषता जोशीले नारे, और आवेशपूर्ण क्रांतिकारी भाषण भी थे, जिनमें समाज को बदल डालने का आह्वान होता था। इन भाषणों में से आवेश से उबलता हुआ **श्री भाऊ समर्थ** का भाषण हमें बहुत देर तक याद रहा, जिसमें पूंजीपतियों और व्यवस्था के पास बिके हुए प्रेस और मीडिया को नकार कर क्रांतिकारी साहित्य को खेत-

खलिहानों और झोंपड़पट्टियों तक ले जाने के लिए कहा गया था। उसी दिन के डलिगेट सेशन में **श्री इकबाल मजीद** भी मध्यप्रदेश में उर्दू की दुरावस्था की बात करते हुए इतने भावुक हो गए, कि अली सरदार ज़ाफरी साहिब को कहना पड़ा कि मुंह से झाग उड़ाते हुए आवेश से बोलने के स्थान पर ठंडे स्वर से बोलना कहीं अधिक सार्थक होता है।

इस बीच शहर में सम्मेलन के आलोचक लोग कानोकान यह खबर भी उड़ा रहे थे कि यह सम्मेलन उत्तर प्रदेश सरकार से लाखों रुपये की ग्रांट प्राप्त करके किया जा रहा है और इसके लिए धनपतियों से विज्ञापन और डोनेशन के रूप में पैसा भी इकट्ठा किया गया है। इस आलोचना को लेकर हमारी आयोजकों से बातचीत हुई। उनका यह कहना था कि इस प्रकार के विश्व सम्मेलन को आयोजित करने के लिए हर स्रोत से पैसा इकट्ठे करने की ज़रूरत तो रहती ही है। देखना तो यह है कि इस सम्मेलन का मूल स्वर और इसकी भावी योजनायें व्यवस्था विरोधी हैं, याकि मात्र व्यवस्था का पिष्ट पोषण कर रही हैं।

निस्संदेह सम्मेलन का घोषणा-पत्र, डेलिगेट सेशन में पारित प्रस्तावों का मूल स्वर और प्रतिनिधियों की खुली बहस इस बात का स्पष्ट प्रमाण रही कि इस सम्मेलन का स्वर व्यवस्था विरोधी था, और कि यह संगठन सत्ता के महाप्रभुओं के हाथ में बिका हुआ नहीं था। सम्मेलन के अंतिम दिन के प्रतिनिधि सत्र में श्री राजीव सक्सेना ने सम्मेलन का जो घोषणा-पत्र पढ़ा, उसमें प्रगतिशील मूल्यों के लिए संघ को पुनः समर्पित किया गया था। इसके अतिरिक्त विश्व-शांति की स्थापना के रास्ते में रुकावट बनी साम्राज्यवादी शक्तियों की निंदा का प्रस्ताव पारित करने के अतिरिक्त देश में सांप्रदायिकता फैलाने और फूट डालने वाली शक्तियों और दलों की घोर निंदा का प्रस्ताव भी पारित किया गया।

पंजाब समस्या और आतंकवाद को लेकर एक प्रस्ताव **डॉ० भीष्म साहनी** ने प्रस्तुत किया। इस प्रस्ताव पर पूरे सदन ने खुलकर बहस की। लगता था सभी लोग पंजाब को लेकर बहुत चिंतित थे। आम राय थी कि मात्र सद्भावना या निंदा का प्रस्ताव पास कर देने से कुछ नहीं होगा। अगर हम प्रगतिशील लेखक हैं, तो हमें इस स्थिति का मुक़ाबिला करने के लिए जान हथेली पर रखकर कुछ ठोस क़दम उठाने चाहिए। निर्णय किया गया कि नौ से पन्द्रह अगस्त के बीच प्रगतिशील लेखकों का एक डेलिगेशन पंजाब जाएगा, जो सारी स्थिति का जायज़ा लेगा, और उसके बाद सामूहिक रूप से जनजागरण के लिए प्रगतिशील लेखक वहां सभायें और कवि-सम्मेलन करेंगे।

लेकिन इसके बाद सबसे अधिक ले-दे लेखक संघ के द्वारा अपने भाषा विषयक नीति-वक्तव्य को प्रस्तुत करने पर हुई। इस वक्तव्य में हिन्दी को राष्ट्र की कड़ी (लिंक) भाषा के रूप में स्वीकार करने की घोषणा की गई थी। इस वक्तव्य का अनुमोदन दक्षिण भारत के प्रसिद्ध लेखक **श्री जयकांतन** ने किया। लेकिन इस वक्तव्य को लेकर सदन में बहुत बावेला हुआ। इस देश में लोग भाषा के आधार पर किस कद्र बंटे हुए हैं,और हिन्दी के प्रभुत्व की आशंका से अहिन्दी लेखक किस तरह आक्रांत हैं, यह यहां भी उनकी चीखोचिल्लाहट से स्पष्ट हो गया। खैर तब **अली सरदाब जाफरी, डॉ० नामवर सिंह** और **डॉ० विशम्भरनाथ उपाध्याय** के सुझाव पर यह वक्तव्य वापस लेकर पुनर्विचार के लिए एक कमीशन के सिपुर्द कर दिया गया। बाद में एक जानकार आदमी ने हमें बताया कि यह बावेला इतना हिन्दी विरोधी नहीं था, जितना व्यवस्था विरोधी था। क्योंकि सम्मेलन के आयोजकों को सरकारी ग्रांट मिली है,

यह तो सबको पता ही था। अब यह हिन्दी वाला नीति-वक्तव्य उन्हें कहीं बिल्कुल सरकारिया ही न बना दे, इसलिए इसका इतना विरोध हुआ।

बाद में नौजवानों के युवा-शक्ति को आगे लाने, और मात्र वक्तव्य जारी करने के स्थान पर कुछ करके दिखाने की मांग के साथ 'अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ' के नये चुनाव भी सम्पन्न हो गए। अब जहां **गुलाम नबी ताबां** साहिब लेखक संघ के अध्यक्ष बने हैं, वहां भीष्म साहनी की जगह महासचिव के रूप में **राजीव सक्सेना** ने ले ली है। दिल्ली से एक और सचिव **श्री केवल गोस्वामी** भी चुने गए हैं, जो वित्त भी देखेंगे। **भीष्म साहनी, डॉ० नामवर सिंह और डॉ० विशम्भरनाथ उपाध्याय** अध्यक्ष मंडल में हैं। अत: इस सबसे हमें लगा कि आने वाले बरसों में जहां लेखक संघ पर उर्दू लेखकों का दबदबा तो कायम रहेगा ही, वहां हिन्दी जगत् में लेखक संघ की गतिविधियों का संचालन दिल्ली से होता रहेगा।

तो यूं इस स्वर्णजयंती समारोह के साथ अखिल भारतीय लेखक संघ ने अपने पचास वर्ष पूरे किए। पचास वर्ष से समाज को बदल डालने वाले भाषण करने वाले वयोवृद्ध लेखकों के स्वर हमें इस समारोह में भी ओजपूर्ण लगे। लेकिन सम्मेलन की समाप्ति के बाद भी हम इसी मंच से दो साधारण-से लेखकों के भाषण भूल नहीं पाए। एक नितांत युवा लेखक **अली जावेद** थे, जिन्होंने मंच की ओर खुले आम इशारा करते हुए कहा कि देख लीजिए यहां मंच पर बैठे महानुभावों में से कितने नौजवान हैं, जो अपनी युवा-शक्ति से क्रांति करेंगे। उन्होंने यह भी कहा कि मात्र वक्तव्य जारी कर देने से क्रांति नहीं हो जायेगी, जैसे कि आज तक हमारे पूर्वज करते रहे हैं। निस्संदेह उनका भाषण लेखक संघ में युवकों को आगे लाने की मांग थी जिसे पूरा करने का वायदा **डॉ० भीष्म साहनी** ने किया, और यूं वचन निबाहने का दायित्व उनके उत्तराधिकारी राजीव सक्सेना पर आ गया।

दूसरी स्मृति लखनऊ के एक कांपते हुए बीमार और बहुत बूढ़े लेखक **श्री गंगाप्रसाद मिश्र** के भाषण की है। उन्होंने बताया कि वह पिछले पचास बरस से इस संघ के लेखक सदस्य हैं, नेता सदस्य नहीं। उन्होंने बावन वर्ष लेखन किया है, दो सौ पचास कहानियां लिखी हैं, आठ उपन्यास रचे हैं, लेकिन आज भी उन्हें कोई नहीं पहचानता, न इस संघ में न बाहर। उन्होंने भावुक स्वर में यह तीता सच बयान करने का प्रयास भी किया, कि इन पचास वरसों में उन्होंने तो यही देखा है कि लेखकों की क्रांति का यह आह्वान सिर्फ़ एक कान्फ्रेंस से दूसरी कान्फ्रेंस तक यात्रा करता रहा है। और साधारण लेखक का लेखन वहीं खड़ा रहता है, अचीन्हा, बेपहचाना, और अनुपयोगी।

यूं एक स्वर जो इस समारोह की धूमधाम के नेपथ्य से बार-बार उभरकर हमें कचोटता रहा, वह था कि साहित्य पर भाषण और सेमिनार से कहीं जरूरी है, एक साधारण-से लेखक का परिवर्तन धर्मी लेखन। इस लेखन को पहचान दें, और एक धरती भी। पचास वर्ष की स्मृति-यात्रा के बाद अब प्रगतिशील लेखक संघ की गली अब इस दिशा की ओर ही मुड़े, इन नेपथ्य के स्वरों ने चाहा था।

[175, **ग्रीनपार्क, मुख्य बसस्टैंड के सामने,**
जालंधर नगर-144001]

□

उषा-अनिरुद्ध चित्र-सीरीज कथा

पिछले अंकों की कथा में उषा ने स्वप्न में एक सुन्दर युवक को देखा था और वह उसको देखकर मुग्ध हो गई थी। उसकी सखी चित्रलेखा ने उस युवक को पहचानने के उद्देश्य से पृथ्वी के महान नायकों के चित्र बनाए। इस क्रम में जब चित्रलेखा ने प्रद्युम्न के पुत्र अनिरुद्ध का चित्र बनाया तो उषा उसे पहचान गई और खुशी में चिल्लाई, "ये वही हैं, ये वही हैं" और चित्र उसके हाथ से छीन लिया। इससे चित्रलेखा को भी गहरा संतोष हुआ। अब उसको अपनी प्यारी सखी के सपनों के नायक को उससे मिलाने की चिन्ता थी।

उस रात अपनी योग शक्तियों के बल से चित्रलेखा द्वारका स्थित महल के उस भव्य कक्ष में पहुंची जहां अनिरुद्ध सो रहा था। उसने उसकी नींद को तोड़े बिना उसी स्थिति में उठाया और बाणासुर के महल में उषा के कमरे में ले आई। महल के बाहर तैनात पहरियों को पता भी न चल सका कि अनिरुद्ध को महल में उषा के कमरे में लाया गया है।

अनिरुद्ध की जब नींद टूटी तो उसने अपने आपको उषा के पास पाया। यह सब देखकर उसे लगा कि वह कोई सपना देख रहा है। लेकिन जल्द ही उसे इस बात का विश्वास होने लगा कि उसके सामने बैठी उषा सपनों की नहीं बल्कि साक्षात् उषा है। जब उसे इस बात का पूरा विश्वास हो गया तो वह भी उसके प्रेम में लीन हो गया। इस तरह दिन व्यतीत होते रहे। जीवन बड़े सुख से बीत रहा था। उषा की सखी चित्रलेखा बड़े मनोयोग से उनकी देखभाल करती रही। लेकिन ऐसी बातें कहीं छिपाए छिपती हैं। एक दिन बाणासुर को प्रहरियों के माध्यम से यह भनक लग गई कि उषा के कक्ष में कोई युवक प्रवेश कर गया है। वह क्रोध से भरा उसके कक्ष की ओर दौड़ा और उसने बाहर से देखा कि उषा उस युवक के साथ शतरंज खेलने में लीन है। जैसे उन्हें दीन-दुनिया की कोई खबर न थी। बाणासुर दहलीज के बाहर ठिठका और कुछ पल यह सब देखता रहा। वह उस युवक की सहृदयता को देखकर हतप्रभ रह गया। फिर उसने अनिरुद्ध को ललकारा और अनिरुद्ध बड़ी बहादुरी के साथ महल के अंग रक्षकों के साथ लड़ा लेकिन अंततः बाणासुर ने उसे बंदी बना दिया।

क्रमशः

उषा-अनिरुद्ध मिलन

भूरिसिंह संग्रहालय, चंबा में सुरक्षित उषा-अनिरुद्ध चित्र सीरीज (१७७०-१७७५) का आठवां चित्र
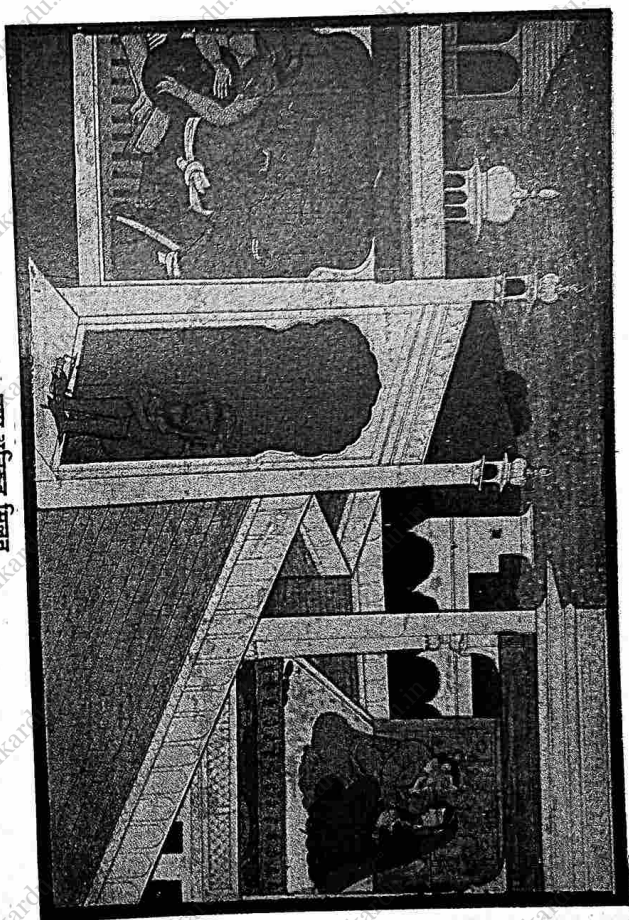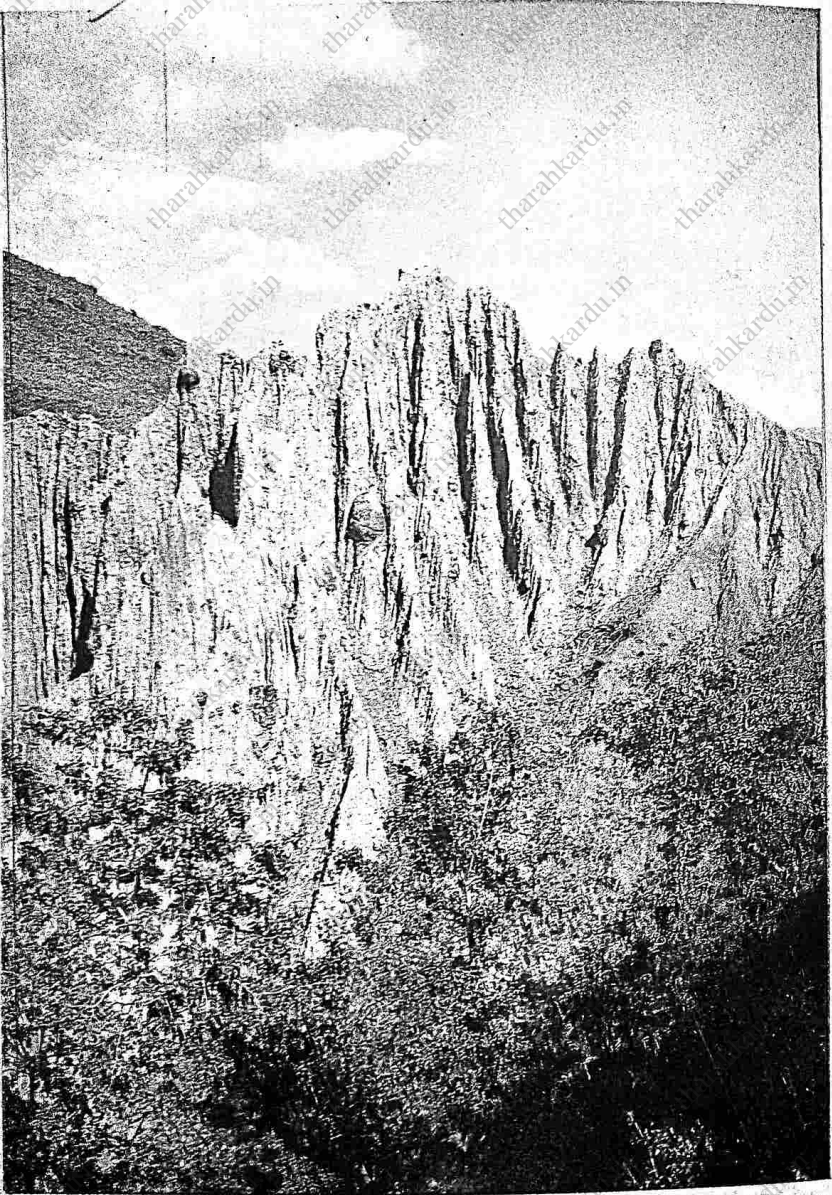
निदेशक, भाषा एवं संस्कृति विभाग, हिमाचल प्रदेश, शिमला-171001 द्वारा प्रकाशित तथा शांति मुद्रणालय, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित।